11

लोक-कला निबंधावली

भाग ४

सम्पादक

देवीलाल सामर

प्रबन्ध सम्पादक

महेन्द्र भानावत

भारतीय लोक-कला मण्डल
ACADEMY OF INDIAN FOLK-ARTS
उदयपुर : राजस्थान

Nasib Singh Manhas

लोक--कला निबन्धावली

भाग–४

•

सम्पादक
देवीलाल सामर

—

प्रबन्ध सम्पादक
महेन्द्र भानावत

•

प्रकाशक
भारतीय लोक-कला मंडल
उदयपुर (राज०)

प्रकाशन विभाग
भारतीय लोक-कला मंडल
उदयपुर (राज०)

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९६६ ई०
मूल्य-तीन रुपया

मुद्रक
श्रीगीता प्रिन्टिग प्रेस, उदयपुर

प्रस्तावना

लोकनाट्यों को दृष्टि से राजस्थान की भूमि बड़ी उर्वरा रही है । इन नाट्यों के जितने रंगरूप हमें यहाँ देखने को मिलते हैं, उनपर अभी समुचित प्रकाश नहीं डाला गया है । । सन् १९६० में यहाँ के खोज-विभाग द्वारा, राजस्थान के लोकनाट्यों का सर्वेक्षण किया गया था । नाट्यसंघ, दिल्ली, की योजना के अनुरुप यह सर्वेक्षण बड़ा सफल रहा । कला मंडल द्वारा यह कार्य आगे भी जारी रहा । वर्तमान में भी इन नाट्यों के कलात्मक पक्ष पर विषद् अध्ययन किया जा रहा है । पर अब वह रंगीनी और कलात्मकता इन नाट्य-रूपों में नहीं रही जो आज से २५-३० वर्ष पूर्व देखने में आती थी । कई नाट्य तो सदैव के लिये लुप्तप्राय से हो गये हैं । कुछ ने अपनी काया ही बदल दी है, और कुछ के केवल कंकाल भर देखने को मिलते हैं । लोकनाट्यों का यह ह्रास बड़ा वेग लिये है । ऐसी स्थिति में उनके बदलते–लुप्त होते रूपों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये ।

प्रस्तुत निबंधावली में पहला निबंध लोकनाट्यों के विकास–क्रम का है । नाट्यों के विकास का इतिहास बड़ा जिज्ञासामूलक है । विद्वानों में यह विषय अब तक अछूता रहा है । इस दृष्टि से इस निबंध का अपना विशेष महत्व है । राजस्थान की ख्याल संपदा पर लिखा गया दूसरा निबंध ख्यालों के विभिन्न नाम, प्रकार, उनकी रंगशैलियाँ, मंच, विषय-वस्तु आदि पर यथेष्ट प्रकाश डालता है ।

आशा है, लोकरंगमंचीय कला-साहित्य में रुचि रखनेवालों के लिये यह सामग्री उपादेय सिद्ध होगी ।

—महेन्द्र भानावत

विषयसूची

१. प्रस्तावना

२. लोकनाट्यों का विकास-क्रम
—देवीलाल सामर १

३. राजस्थान की ख्याल संपदा
—महेन्द्र भानावत ६५

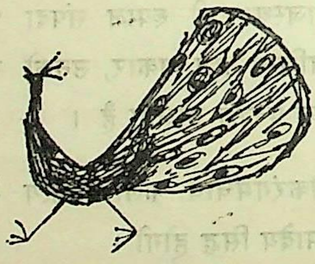

लोकनाट्यों का विकास-क्रम

देवीलाल सामर

लोकनाट्य सामाजिक प्रतिभा की उपज है, व्यक्ति-प्रतिभा की नहीं। लोक-जीवन में इनका महत्व अक्षुण्ण है। इस लेख में भारतीय लोकनाट्यों के विकास-क्रम का वैदुष्यपूर्ण निरूपण किया गया है। —सम्पादक

अन्य लोककलाओं की तरह किसी भी लोकनाट्य का कोई विशिष्ट रचयिता नहीं होता। वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिभाओं के सम्मिलित चमत्कार का एक साकार स्वरूप होता है। उसमें जनजीवन की भावनाओं तथा उपलब्धियों की प्रतिच्छाया होती है तथा नाटक की सफलता, असफलता का भागीदार समस्त समाज होता है।

आज हमारे देश में जो विविध क्षेत्रीय नाट्य उपलब्ध होते हैं, उनमें अधिकांश तो ऐसे हैं, जो विशिष्ट लेखकों की देन हैं, और जिन्हें लोकनाट्यों की संज्ञा अवश्य दी जाती है, परन्तु वास्तव में वे उस श्रेणी में नहीं आते हैं। लोकगीतों की तरह लोकनाट्यों के स्वाभाविक सृजन की प्रक्रिया इतनी सहज और सरल नहीं है। लोकगीत एक व्यक्ति की प्रतिभा की उपज है, जो बाद में अनेक सामाजिक प्रतिभाओं के सम्मिश्रण

से लोकगीतों का दर्जा प्राप्त करता है, परन्तु नाट्य प्रारम्भ से ही किसी भी व्यक्ति विशेष की उपज नहीं हो सकता, उसका प्रारम्भ ही सामाजिक प्रतिभा की उपज है। गीत की तरह उसकी उत्पत्ति व्यक्ति से नहीं होकर समष्टि से होती है।

समष्टिगत सृजन एक अत्यन्त जटिल और उलझी हुई प्रक्रिया है। समाज जिन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक भावनाओं से आक्रान्त रहता है, उनकी गहरी छाप सामाजिक मानव पर अंकित हो जाती है और मनुष्य के जीवन का प्रत्येक पक्ष उनसे ओतप्रोत रहता है। यदि वह सामाजिक भावना प्रबल धार्मिक चेतना के रूप में प्रकट होती है और उसका लगाव किसी महान धार्मिक व्यक्तित्व से है, जो समाज का धार्मिक नेतृत्व ग्रहण कर लेता है, तो समस्त समाज उस व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होता है। उसके अवसान के बाद भी उसका यह लौकिक व्यक्तित्व आध्यात्मिक व्यक्तित्व बन जाता है। जनता उसे अपनी अटूट श्रद्धा और भक्ति का पात्र बना लेती है, उसकी गुण गाथाएं गाने लगती है तथा उसकी स्मृति में पर्व तथा समारोह मनाती है, उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में गीत रचती है, स्मारक बनाती है, पूजा अर्चन करती है। अर्चन स्मरण के ये ही साधन अनुकृतिमूलक बनकर विशाल जन–समूह के बीच नर्तन गायन तथा कथा–प्रवचन का रूप ले लेते हैं। शनैः शनैः येही गीत, प्रवचन, भजन, कथोपकथन आदि उस व्यक्ति विशेष के जीवन सम्बन्धी प्रसंगों की झाँकियों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। गेय बोल को गायक स्वर देता है, स्वांगों तथा अनुकृतिमूलक झाँकियों को भाषाकार संवाद प्रदान करता है, विविध क्रियामूलक प्रसंगों को नर्तक पदचापों में बाँधकर क्रियाशील बनाता है तथा झाँकीकार की कल्पना को सामाजिक मस्तिष्क उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करता है।

ऐसे भीमकाय राष्ट्रीय तथा वृहद सामाजिक महत्व के नाटक किसी भी जगत, समाज या राष्ट्र के जीवन में युगों से चले आरहे हैं।

प्रत्येक संवेदनशील तथा आक्रान्त क्षणों में इन वृहद नाटकों का कलेवर उत्तरोत्तर बढ़ जाता है। उनमें प्रयुक्त गीतों में ताकत आती है। उनके कथोपकथन तथा नृत्य परिपक्व होते रहते हैं, और कालान्तर में उस आध्यात्मिक तथा सामाजिक महत्व के व्यक्तित्व के इर्द गिर्द एक अत्यन्त समर्थ नाटक गुथता जाता है, जो आयेदिन विशिष्ट प्रसंगों पर अभिनोत होकर उस युग प्रवर्तक नेता की स्मृति और शिक्षा को कायम रखता है। ऐसे नाट्यों में यह पता नहीं लग सकता कि उनके गीत किसने लिखे हैं. कथा–प्रसंग का चयन किसने किया है तथा कथोपकथन किस व्यवस्था से नाटक को सार्थक और जोरदार बनाता है। ऐसे नाटक बहुक्षेत्रीय, दीर्घजीवी तथा बहुसंख्यक जनता को प्रभावित करनेवाले होते हैं।

ऐसे स्थाई मूल्य वाले दीर्घजीवी नाटक अधिकांश धार्मिक व्यक्तित्व के साथ ही गुथे हुए होते हैं और उनका प्रचार और प्रसार क्षेत्र भी बड़ा होता है। सामाजिक व्यक्तित्व पर आधारित नाटक संख्या में न्यून और प्रभाव में सशक्त नहीं होते। ऐसे व्यक्तित्व बहुधा विवादास्पद होते हैं। समाज के किसी एक वर्ग को उनके सिद्धांत ग्राह्य होते हैं, दूसरे के लिये वे ही निरर्थक और घातक सिद्ध हो सकते हैं। समाज का प्रगतिशील पक्ष ऐसे व्यक्तित्व का पुजारी होता है और अप्रगतिशील लोग उसके घोर विरोधी होते हैं। यही कारण है कि वास्तविक लोकनाट्यों की सूची में सामाजिक नाटकों की संख्या बहुत कम होती है। बहुधा तो ऐसे सामाजिक तत्व धार्मिक नाटकों के साथ ही जुड़े रहते हैं, क्योंकि समाज को आदेश निर्देश का कार्य सदा ही धर्माचार्यों के जिम्मे रहा है। भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्परा में समाज सुधार और धर्माचरण में पहले कोई विशेष अन्तर नहीं था। धर्म के आचरण तथा परम्परागत धर्म–परिपाटी के अनुशीलन पर आधारित समाज सुधार ही सामाज सुधार समझा जाता था। कोरी समाज सुधार की बातें कहने वाले तथा तद्विषयक

आचरण न करने वाले का प्रभाव समाज पर विशेष गहरा नहीं होता था। इसी तरह अनेक ऐतिहासिक प्रसंग, जिनमें धर्म तथा राष्ट्र के लिये त्याग, तपस्या तथा बलिदान के कृत्य जनता के हृदय पर अमिट छाप छोड़ते हों, कभी-कभी जन-रूचि को भा जाते हैं और वे भी झाँकियों, समारोहों तथा स्मृति-दिवसों का रूप धारण कर लेते हैं। उनका एक अत्यन्त स्थूल रूप पहले खेल-तमाशों के रूप में जनता के समक्ष आता है, तत्सम्बन्धी गीतों की प्रारम्भिक धुन में अनेक धुनें मिल जाती हैं, नृत्य की पदचापों में अनेक चापें आत्मसात होती हैं, एक चरित्र के अभिनय के लिये अनेक पात्र रंगस्थली में उतर आते हैं। इस प्रकार के प्रारम्भिक रूप की रूपरेखा निर्धारित करने के लिये समस्त जन-मानस तैयार रहता है।

मौलिक लोकनाट्यों का विकास उक्त कथन के अनुसार होता रहता है। जन-मानस की रुचि तथा अन्य मनोरंजनात्मक तत्वों तथा साधनों के अनुसार उनमें परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के रूप में उत्तर-प्रदेश की पुरातन रामलीला ही को लीजिये। वह मूल रूप में कुछ और ही थी, परन्तु कालान्तर में पारसी नाटक तथा अन्य नाट्य-प्रकारों के प्रभाव से उसमें दृश्यावलियों के परदों का उपयोग होने लगा और बहु-स्थलीय वास्तविक स्थितियों पर प्रदर्शन होने की अपेक्षा उसका प्रदर्शन एक ही रंगमंच पर पारसी नाटकों की तरह होने लगा। कलेवर की दृष्टि से भी इन रामलीलाओं ने तुलसीकृत रामायण से अपना कथोपकथन प्राप्त किया। सर्वाधिक परिवर्तन तो यह हुआ कि उनका सामाजिक प्रदर्शनकारी रूप व्यावसायिक रामलीलाओं में परिवर्तित होगया।

मथुरा-वृन्दावन की रासलीलाओं ने भी अपनी मौलिक नृत्य शैली को आज से १५० वर्ष पूर्व ही कत्थक नृत्य शैली में परिवर्तित कर दिया और उनके लोकधर्मी रूप को शास्त्रीय संगीत की ध्रुपद शैली ने अत्यधिक प्रभावित किया। वृन्दावनी रासलीला का आधुनिक स्वरूप वास्तव

में उसके उस मौलिक लोकधर्मी स्वरूप में नहीं है, जो आज भी गुजरात के रासड़ो, गारबा रास, राजस्थान की रासधारी तथा रासक में विद्यमान है। वह धीरे-धीरे आचार्यों और पंडितों के संसर्ग से प्रायः शास्त्रीय स्वरूप बन गया है। इसी तरह बंगाल की जात्रा का भी पूरा रूपान्तर होगया है। एक समय ये जात्राएँ खेल, कूद, स्वांग. कीर्तन, संवाद, गीतों के रूप में तथा भक्तजनों की यात्रा के रूप में थीं, जिनमें भक्तजन अपने इष्टदेव की विविध झाँकियों को अपने यात्राकाल में प्रदर्शित करते थे। चैतन्य महाप्रभु के समय तक भक्तजन कृष्णभक्ति को प्रधानता देने लगे और ये सभी यात्राएँ कृष्ण जीवन से सम्बन्धित हो गईं। धीरे-धीरे इन यात्राओं ने भी अन्य लोकनाट्यों की तरह ही समकालीन नाट्य-शैलियों से प्रभाव ग्रहण करना शुरू किया। ये यात्राएँ व्यावसायिक मंडलियों की धरोहर बन गईं और रईसों तथा धनिकों के मनोरंजन का माध्यम बन जाने के कारण उनमें अनेक आधुनिक विषय समाविष्ट हो गये। मेवाड़ प्रदेश की रासधारी, जो कि किसी समय राम–कृष्ण जीवन सम्बन्धी प्रसंगों की एक अत्यन्त लोकरंजककारी सामुदायिक नाट्य शैली थी, आज राजा केसरीसिंह, अमरसिंह राठौड़ आदि ऐतिहासिक पुरुषों के कथा–प्रसंग अपनाने लगी।

इस तरह सैंकड़ों वर्षों के निरन्तर प्रयोग, उपयोग से धार्मिक तथा अनुष्ठानिक नाटक एक विशेष स्वरूप धारण करने लगते हैं और उनके अंग–प्रत्यंग विकसित होने लगते हैं। इनकी शैलीगत नींवें गहरी होने लगती हैं और उनके प्रचार–प्रसार क्षेत्र के बढ़ने के साथ वे जीवन के साथ अनुष्ठान की तरह जुड़ जाते हैं। उनकी अभिनय, रचना विधि, प्रस्तुतीकरण, गायन, नर्तन तथा रंगमंचीय प्रगटीकरण की शैली भी रूढ़ होने लगती है। उनकी धुनें निर्धारित हो जाती हैं। भावाभिव्यंजनकारी नृत्य मुद्राएँ भी निश्चित हो जाती हैं, कवित्व तथा गीत रचना के विविध छंद–प्रकार भी एक विशिष्ट परम्परा में पड़ जाते हैं। वाद्य वादन आदि

के लिये निश्चित बोल, परन आदि नियमों में बंध जाते हैं। ऐसी एक प्रगाढ़ सारगर्भित और अनुभवगत परम्परा कायम होने के बाद अनेक ऐसे रचयिता भी प्रकट हो जाते हैं जो स्वयं उन मर्यादाओं में रहकर नाट्य रचना करने लगते हैं। उनके गीत, कवित्त आदि परम्परागत धुनों तथा छंदों में ही रचे जाते हैं। नाट्य प्रस्तुतीकरण की शैली भी वही होती है। केवल विषय का चुनाव वे अपनी इच्छा अनुसार करते हैं। ऐसे स्वरचित नाट्य भी आजकल लोकनाट्यों में ही शुमार होते हैं। यद्यपि उनकी रचनाविधि सामाजिक कसौटी पर नहीं उतरी है फिर भी उनमें पारंपरिक तथा शैलीगत साम्य होने के नाते उन्हें भी विद्वानों ने लोकनाट्य ही माना है।

राजस्थान के पिछले १०० वर्षों में लिखे हुए लगभग सभी लोक-नाट्य (ख्याल) ऐसे हैं, जिनके साथ विशिष्ट लेखक जुड़े हुए हैं और जिनके नामों से ही उनके ख्याल चलते हैं। ये सभी ख्याल उत्तरप्रदेश की रामलीला, रासलीला, बंगाल की जात्रा, यक्षनाट्य तथा यक्षगान की तरह अनुष्ठानिक नाट्य नहीं हैं फिर भी शैलीगत परम्परा का उनमें निभाव होने के कारण वे लोकनाट्य हीं में शुमार हैं। इन स्वरचित लोक-नाट्यों में कुछ ऐसे भी नाट्य हैं, जो प्रदर्शित होनेपर लोकरुचि को पकड़ लेते हैं और जनता उनके कलेवर को बढ़ाती जाती है। अंकुर रुप में लिखा हुआ ऐसा नाटक कालान्तर में कल्पवृक्ष के रुप में विकसित होता है और वैयक्तिक प्रतिभा के बदले वह सामाजिक प्रतिभा का प्रतीक बनता है। ऐसी स्थिति में ऐसे नाटकों का लेखक प्रकट रूप में अवश्य रहता है, परन्तु वास्तव में वह समाज ही का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लेखक, जो अपने मूल नाटक में समाजीकरण का स्वागत करते हैं और अपना व्यक्तित्व उनमें तिरोहित कर देते हैं, वे समाज द्वारा पूजे भी जाते हैं और उनकी कृति अत्यधिक फलती फूलती भी है। समाज द्वारा उपलब्ध हुई इस ख्याति को भी वे समाज ही को देते हैं। परन्तु ऐसे लेखक

जो अपनी कृति में सामाजिक प्रतिभा का स्वागत नहीं करते, उनमें किसी प्रकार का संशोधन, परिवर्धन स्वीकार नहीं करते, उनकी कृति जन्म के साथ मर भी जाती है।

मध्य प्रदेश के माच और तुर्रा कलंगो के अनेक खेल ऐसे हैं जिनपर विशिष्ट लेखकों के नाम अंकित हैं। महाराष्ट्र में भी कई तमाशे विशिष्ट लेखकों द्वारा लिखे गये हैं। उनमें से कुछ तो विकास की चर्मसीमा तक पहुँच चुके हैं। वे थियेटरों में आधुनिक नाटकों की तरह खेले जाते हैं। बंगाल और आसाम की कई जात्राएँ भी आधुनिक साज सज्जाओं के साथ थियेटरों में खेली जाने लगी हैं। लोकनाट्यों का यह आधुनिकरण उनके लिये विकृतिमूलक न होकर निश्चय ही विकासमूलक है। उन्हें समाज के बौद्धिक तत्वों का आश्रय मिल जाने से वे विकासोन्मुख हैं। हीर रांझा, सोहनी महिवाल, मूमल महेन्द्र, ढोला मारू, मीरा मंगल जैसे पंजाबी और राजस्थानी लोकनाट्य भी शिक्षित समाज का ध्यान आकर्षित करने लगे हैं और उन्हें नया जीवन मिला है। इसी तरह आन्ध्र, कन्नड़ तथा केरल देश के यक्षगान, यक्षनाट्य, कथाकली तथा कामनकोट्टू नाट्य जो कि उत्तर भारतीय लोकनाट्यों से कहीं अधिक संस्कृत नाटकों से प्रभावित हैं, आधुनिक रंगमंच की अनेक परम्पराओं को अपने में प्रविष्ट कर अधिक प्राणवान बन गये हैं। गुजरात के प्रमुख नृत्यकार श्रीयुत जयशंकर सुन्दरी ने तो भवाई नाटक को आधुनिकरण के रंग में इस तरह रंगा है कि उसमें पुन: जीवन का संचार हुआ है।

विशुद्ध लोकनाट्य की कृतियाँ वे हैं, जिनपर किसी लेखक विशेष का नाम जुड़ा नहीं रहता और जिनके प्रसंग विस्तृत जनमानस पर युगों से अंकित रहते हैं। ऐसे नाटक बहुधा अलिखित होते हैं। उनके कथानक सर्व विदित, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक प्रसंग होते हैं। ये नाटक बहुधा विश्रृंखल और पथ विचलित जनता के समक्ष मानवी आदर्श उपस्थित करने के लिये अवतरित होते हैं। इन नाटकों की परम्परा

बहुत पुरानी होती है और वे राष्ट्रीय और सामुदायिक महत्व के नाटक होते हैं, जो बहुधा किन्हीं विशिष्ट प्रसंगों तथा अनुष्ठानिक पर्वों पर खेले जाते हैं। इन नाटकों के कथानक तथा उनके द्वारा निरुपित आदर्श और उनको परम्परागत मान्यताएँ इतनी प्रबल होती हैं कि उनके अभिनय में विशिष्ट रंगमंचीय उपकरणों तथा प्रदर्शनात्मक दक्षता द्वारा जनता को प्रभावित करने की आवश्यकता नहीं होती। वे बहुधा ऐसे महापुरूषों की जीवन घटनाओं से संबंधित रहते हैं, जिन्हें समाज युगों से प्रगाढ़ स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखता आया है।

लोकनाट्य में धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श उपस्थित करने वाले नाटकों के अलावा ऐसे नाटक भी बहुत प्रचलित हैं, जिनमें कभी-कभो सामाजिक आदर्शों की पूरी-पूरी अवहेलना रहतो है तथा जीवनादर्शों से कहीं अधिक पारिवारिक आनन्द तथा हलके फुलके मनोरंजन की ओर सबसे अधिक ध्यान रहता है। कभी-कभी समाज का मनचला वर्ग ऐसे नाटकों के इन असामाजिक तत्वों पर अनायास ही आकर्षित होजाता है और उनके साथ अपनी कुप्रवृत्तियों और चेष्टाओं को आत्मसात कर लेता है। ऐसे प्रसंगों में अनेक असामाजिक तत्वों को प्रश्रय मिलता है। नाट्य में प्रकट होने वाली कुलटा नारो सती स्त्री से कहीं अधिक लोकप्रिय बन जाती है। लुटेरा इमानदार पात्र से अधिक पसंद किया जाता है। इश्क मिजाज नोजवान पात्र चरित्रवान युवक पात्र से बाजी लेजाता है। विवाहित स्त्री पात्र से कहीं अधिक छिप-छिप कर प्रेम करनेवालो मनचली स्त्री पात्र दर्शकों के मन की सामग्री बन जाती है। राजस्थान के इश्कबाज पनवाड़ो, छैला दिलजान, छोटाबालम नामक ख्याल तथा मध्यप्रदेश के माचों में छबीली भटियारिन तथा नौटंकियों में आँख का जादू, जवानो का नशा, सियाह पोश आदि लोकनाट्य भो इसी कोटि के हैं। रात-रात भर असंख्य जनता इन नाटकों के प्रदर्शनों का लाभ लेती है। उनकी स्वर–लहरियों तथा नृत्य–भंगिमाओं से आत्मविभोर होजातो है। ये नाटक कला की दृष्टि से अत्यधिक कुशल नाटक

होते हैं और दर्शक उनकी अदायगी की कलात्मक कारीगरी में इतने उलझ जाते हैं कि उनके ही नचरित्र नायकों का उनपर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। ये अतिशय मनोरंजनकारी नाट्य दर्शकों को नाच, गान, हंसी मजाक ही में इतना उलझा देते हैं कि ये असामाजिक चरित्र उनपर कोई प्रभाव नहीं डालते। पतिव्रता दर्शक–स्त्रियां भ्रष्ट नाट्य-पात्र को घृणा से नहीं देखतीं, ईमानदार दर्शक बेईमान नाट्य–पात्र का तिरस्कार नहीं करता। वह खूब जानता है कि समस्त नाटक में इन सब पात्रों की सृष्टि केवल मनोरंजन के लिये हुई है और वे सब असल नहीं हैं, नकल हैं। दर्शक यह भी खूब जानता है कि ये नाटक, जो समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करते हैं, मनुष्य की आँखें खोलने के लिये हैं और पथभ्रष्ट को उनसे सतर्क रहने का सबक सिखलाते हैं।

इन नाटकों के अत्यधिक शृंगारिक तथा असामाजिक कुप्रभावों का प्रतिशोध करने के लिये उन्हें अतिशय कलात्मक और प्रभावशाली होना आवश्यक होता है। इन नाट्यों के अभिनेता अतिशय कला-प्रवीण, नाट्यमर्मज्ञ एवं कुशल प्रदर्शक होते हैं। वे बहुधा व्यावसायिक मंडलियों द्वारा ही प्रदर्शित होते हैं। इन नाटकों में भी वे ही नाटक सर्वाधिक लोक-प्रिय होते हैं, जिनमें अधिकाधिक सामाजिक गुण विद्यमान हों और जिनके क्रमबद्ध सृजन में समाज का अधिकाधिक हाथ हो तथा जिनका प्रत्यक्ष लेखक केवल निमित्तमात्र हो। ऐसे नाटक निम्नादर्शी होते हुए भी जनता के कंठों के हार होते हैं तथा उनके कुचरित्र तथा कुत्सित पात्र भी जनता की रुचि को पकड़ लेते हैं।

समाज के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास के साथ ही इन नाटकों की अभिवृद्धि होती रहती है और समाज के कलात्मक स्तर के अनुसार ही उनका कलात्मक स्तर बढ़ता रहता है। वे चाहे कितने ही उन्नत हो जावें, कितनी ही कलामर्मज्ञ व्यवसायी मंडलियाँ उनका उपयोग करें, परन्तु वे अपना

लोकधर्मी गुण नहीं छोड़ते। बंगाल की अनेक जात्राएँ, महाराष्ट्र के कई तमाशे और आन्ध्र तथा कन्नड़ के यक्षनाट्य आधुनीकरण की प्रक्रिया से ओतप्रोत होकर थियेटरों और नाट्य-गृहों में प्रदर्शित होने लगे हैं। केरल का कथाकली और आन्ध्र तथा कर्नाटक का यक्षगान-नाट्य सैकड़ों वर्षों की सामाजिक तथा लोकधर्मी परम्पराओं के साथ ही पिछली १८ वीं शताब्दी से शास्त्रीय तत्वों को ग्रहण करने में संलग्न हैं। परिणाम यह हुआ है कि इनके प्रदर्शनों में अत्यधिक कला-प्रवीणता और मर्मज्ञता की आवश्यकता होती है और अनेक शास्त्रीय जन उन्हें शास्त्रीय नाट्यों में भी शुमार करने लगे हैं। परन्तु इनकी समस्त शास्त्रीय विशेषताएँ और नाट्य विधाएँ आज भी जन-सुलभ रुचि के अनुसार ही प्रगति पर पहुँची हैं। इसलिये वे इतनी उन्नत अवस्था में भी लोकनाट्यों में ही शुमार हैं। दक्षिण भारतीय जनता की बुद्धि और कलात्मक रुचि उत्तर भारतीय जनता से कहीं अधिक बढ़ी हुई है। इसलियं उसकी समस्त लोक-कलाएँ धीरे-धीरे शास्त्रीय कलाओं के समक्ष पहुँचने की कोशिश में हैं। वृन्दावन की रासलीलाएँ भी बड़े-बड़े समृद्ध वैष्णव मंदिरों के सम्पन्न वातावरण में बड़े-बड़े पंडितों और ब्राह्मणों द्वारा परिपोषित होने के कारण शास्त्रीय तत्वों से भारी भरकम होगई हैं. फिर भी उनका प्रस्तुतीकरण का ढंग और दर्शकों की अभिरुचि को देखते हुए वे अभी भी लोकनाट्य ही बनी हुई हैं। उड़ीसा की उड़ीसी नृत्य-नाट्य शली, जिसका विकास अनेक उड़ीसी जात्राओं तथा कुचपुड़ी शैली के नाट्यों के रूप में पिछले १०० वर्षों में हुआ है, पुरी के मंदिरों में आचार्यों ने उनपर शास्त्रीय तत्वों का इतना अधिक मुलम्मा चढ़ाया है कि इनके लोकतत्व बड़ी तेजी से लुप्त हो रहे हैं। आज तो ये नृत्य-नाट्य न तो लोकशैली में ही शुमार हैं, न शास्त्रीय शैली में ही।

लोकनाट्यों का समाजीकरण एवं व्यावसायीकरण

लोकनाट्यों का सृजन सर्वदा ही एक प्रबल सामाजिक प्रक्रिया है। किसी विशिष्ट सामुदायिक प्रसंग पर उनका अभिनय होता है। अनेक सामाजिक प्रतिभाएँ मिलकर प्रदर्शन करती हैं। उनके लिये विशिष्ट रंगमच बनाया जाता है तथा प्रदर्शन सम्बन्धी सभी सामग्रियाँ जुटाई जाती हैं। अभिनेता अपनी पोशाकें स्वयं लाते हैं। संगीतकार अपना सार्वजनिक कर्तव्य निभाने के लिये साजों के साथ अपनी सेवाएँ देते हैं। गांव का रंगरेज निःशुल्क पोशाकें रंग देता है। दर्जी निःशुल्क कपड़े सीता है। रोशनीवाला नाई निःशुल्क रोशनी का प्रबन्ध करता है। गाँव का हलवाई अपनी तरफ से निःशुल्क जलपान का प्रबन्ध करता है। गाँव का खाती रंगमंच बनाने में अपनी निःशुल्क सेवाएँ प्रदान करता है। गांव का भंगी भिश्ती आदि भी सफाई तथा छिड़काव में किसी से पीछे नहीं रहता। सामाजिक स्तर पर इन नाटकों का प्रदर्शन होता है इसलिये सभी कलाकार खुलकर अपना प्रदर्शन करते हैं और उनकी अभिनयात्मक दुर्बलता की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता। यदि कोई अभिनेता गाने में कमजोर है तो दर्शक तुरन्त गाकर उसकी कमजोरी को छिपा देते हैं। यदि किसी नृत्यकार की नृत्य–अदायगी ठीक नहीं है तो दर्शकों में से कोई भी प्रवीण कलाकार रंगमंच पर चढ़कर उसकी कमी को पूरी कर देता है। इस तरह नाटक के समस्त गुण–दोष जनता के गुण–दोष बन जाते हैं और दर्शक–प्रदर्शकों के बीच एक भारी सहानुभूति रहती है।

इस तरह सामुदायिक स्तर पर प्रदर्शित होने वाले नाटकों में कुछ नाटक ऐसे भी होते हैं जो जन–रुचि को सर्वाधिक पकड़ लेते हैं। उनकी रचना तथा गीत–नृत्य विधि में एक विशेष आकर्षण होता है। उनके सफल प्रदर्शन में कभी-कभी प्रवीण गायक तथा नर्तक की

आवश्यकता होती है तो गाँव के लोग स्वयं किसी निकटवर्ती गांव या शहर से किन्हीं प्रवीण कलाकारों को रंगमंच पर लाते हैं और उनकी सेवाएँ निःशुल्क या सशुल्क उपलब्ध करते हैं। ऐसे कलाकार कुछ ही समय में अपनी कलात्मक अदायगी के कारण चमक उठते हैं और गाँव-गांव, नगर-नगर में होने वाले ऐसे प्रदर्शनों में वे बुलाये जाते हैं। उनके बिना वे प्रदर्शन फबते भी नहीं हैं और जनता भी उन्हीं का नाम सुनकर कोसों दूर से दर्शनार्थ उमड़ पड़ती है। धीरे-धीरे लोकरुचि तथा जनता का आग्रह देखकर ही ये विशिष्ट कलाकार अपनी नाट्य-मंडलियाँ स्वयं बना लेते हैं और पूर्व प्रचलित लोकनाट्यों में नाना प्रकार के रंग भरकर उनको अत्यधिक चमत्कारिक बनाते हैं। प्रचलित नाट्य-गीतों को वे अत्यंत आकर्षक ढंग से गाते हैं और उनको स्वर-रचनाओं को अत्यधिक चमत्कारिक करके प्रस्तुत करते हैं। उनके स्वयं के साजिन्दे होते हैं, जो अत्यधिक चमत्कारिक ढंग से बजाते हैं और प्रवीण कलाकरों कीं अदायगी में चार चाँद लगाते हैं। इस तरह के व्यावसायिक प्रयोग से नाट्य अत्यधिक परिपुष्ट होता है और जनरुचि को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस प्रक्रिया से नाटक का कलेवर भीं बढ़ता है और उसके अनेक अंग, जो सामुदायिक स्तर पर परि-पुष्ट नहीं होते हैं, परिपक्व हो जाते हैं। इन नाटकों को प्रदर्शन विधि अधिक पुष्ट बनती है और समाज में बिखरे हुए अनेक प्रवीण कलाकार नाटक को अपना व्यवसाय बना लेते हैं। इस तरह अनेक नाट्य मंडलियाँ कुछ ही समय में निखर पड़ती हैं और पारस्परिक होड़ के कारण नाटकों में भी अधिकाधिक रंग भरने लगता है। सामाजिक स्तर के नाटकों की तरह ये व्यावसायिक नाटक बिखरे हुए नहीं होते। उनमें पर्याप्त मात्रा में कसावट आ जाती है। नाटकों के गीत-नृत्यों में जो पुनरावृति का दोष रहता है, वह दूर हो जाता है और उनकी जगह नवीन गीत-नृत्यों का समावेश हो आता है।

ये नाटक भी रात-रात भर चलते हैं, क्योंकि मीलों चलकर दूर-दूर के गांवों से आनेवाले दर्शक अपनी सारी रात इन्हीं प्रदर्शनों में लगाना चाहते हैं, ताकि बची हुई रात में विश्राम के लिये उन्हें कोई स्थान नहीं ढूंढना पड़े और सवेरा होते ही वे सीधे अपने घर लौट जावें। दर्शकों के इस आग्रह के कारण प्रदर्शकों को विवश होकर नाटक के कलेवर को बढ़ाना पड़ता है और इस तरह अनेक अप्रासंगिक प्रसंग मूल नाटक के साथ ज़ुड़ जाते हैं, जिनका उनके साथ कोई संबंध नहीं होता। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण अपने नाटकों को अधिक आकर्षक बनाने के लिये उन्हें रंगमंचीय साधनों आदि में कई परिवर्तन करने पड़ते हैं। इन लोकनाट्यों में रंगीन परदों तथा नाटकीय सामग्री का प्रयोग इसी प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप होने लगा है। यह प्रतिस्पर्धा कभी-कभी इतना ईर्ष्यात्मक और विकराल रूप धारण कर लेती है कि इन मंडलियों को अपने प्रदर्शन-क्षेत्र तथा जातिगत मनोरंजन के लिये परिवार बांटने पड़ते हैं। इस बटवारे से प्रदर्शनों का समय, पारिश्रमिक की रकम तथा जातियाँ निर्धारित होगई हैं। ये प्रदर्शन अब कई जगह जाति तथा क्षेत्र के जीवन में एक परम्परा के रूप में प्रविष्ट होगये हैं। राजस्थान और गुजरात की भवाई नाट्य मंडलियाँ इसी तरह जातिगत परिवारों के साथ जुड़ गई हैं, जो निश्चित समय तथा निश्चित पारिश्रमिक पर मनोरंजन करती हैं। ये भवाई मंडलियां इस तरह विविध परिवारों के लिये विभक्त होकर अनेक समस्याओं से बचगई हैं।

राजस्थान का गवरी नाट्य भी एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में परिपुष्ट हुआ है जो विधिवत् विशिष्ट मंडलियों द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों और परिवारों के लिये विशिष्ट समय पर प्रदर्शित होता है। भारतवर्ष में यही एक ऐसी नाट्य-परम्परा है जो व्यावसायिक नहीं होते हुए भी प्रदर्शन की दृष्टि से क्षेत्रीय और जातीय आधार पर विभक्त होती है और किसी भी आर्थिक प्रलोभन के बिना ही डेढ़ माह तक पूरे समय

की मंडलियों की तरह गठित होकर अनुष्ठानिक रूप से गांव-गांव प्रदर्शन देती फिरती है। इन व्यावसायिक मंडलियों के प्रसार के कारण सामुदायिक नाट्य-प्रदर्शनों को आघात अवश्य पहुँचा है। सधे सधाये नाट्य-प्रदर्शन यदि बिना किसी परिश्रम के ही उपलब्ध होजावें तो गांव के लोग स्वयं क्यों प्रदर्शन करें। आज से ५० वर्ष पूर्व जब देशमें सामुदायिक नाट्यों का बाहुल्य था, इन नाटकों के लिये विशेष स्थान था। उनके विशेष रंग-मंच तथा चबूतरे निर्मित होते थे। विशिष्ट नाट्य-सामग्री एक जगह सुरक्षित रहती थी। वर्ष भर में कम से कम एक बार नाटक करने के लिये विशिष्ट समितियाँ बनती थीं, उनके विशिष्ट चंदे एकत्रित होते थे। सामुहिक भोज होता था। सब परिवारों को एक वृहद् आयोजन के रूप में मिलने का अवसर मिलता था। वह एक प्रकार से गाँव का महत्वपूर्ण सार्वजनिक त्यौहार था। गाँव के अनेक उदीयमान कलाकारों को रंगमंच पर आकर अपनी प्रतिभा को दर्शाने का अवसर मिलता था। गांव में कुछ वयोवृद्ध लोग ऐसे होते थे, जो इन सैंकड़ों वर्ष पुराने नाटकों के अलिखित गीत-संवादों के चोपड़े सुरक्षित रखते थे। वे नाट्य की परम्पराओं के रक्षक समझे जाते थे। उनके लिये नाट्य-रंगमंच पर एक विशिष्ट आसन निश्चित रहता था तथा समस्त गाँव उनको पूज्य दृष्टि से देखता था। लोकनाट्यों के इस व्यावसायीकरण से निश्चय ही नाट्यों के सामुदायिक तत्वों को भयंकर क्षति पहुँची है।

दक्षिण भारत के तथा महाराष्ट्र के लगभग सभी लोकनाट्य सामुदायिक स्तर से ऊपर उठकर व्यावसायिक स्तर पर पहुँच गये हैं। इसके मूल में केवल यही कारण है कि जनसाधारण का कलात्मक स्तर औसत से ऊपर उठ गया है और सामुदायिक तथा व्यावसायिक नाट्य-विधियों में बहुत कम अंतर रह गया है। महाराष्ट्र का तमाशा जब सामुदायिक स्तर पर था तो उसका प्रारंभिक रूप गम्मतों के रूप में था। उसका सामुदायिक रूप गोधल, स्वांग तथा ललित के रूप

में आज भी परिलक्षित होता है। पहले ये ही तमाशे, सुरतिया, सोगड़िया नर्तकी की सहायता से गीतिकथाओं के रूप में विद्यमान थे। बाद में शायरों तथा कवियों की विशिष्ट प्रतिभाओं ने और पेशवाओं तथा राजा-महाराजाओं के विशिष्ट संरक्षण ने इनको उच्चकोटि के व्यावसायिक तमाशों में बदल दिया और लावणियाँ आदि प्रचलित धुनों ने उनपर गजब का रंग चढ़ाया। आज तमाशा महाराष्ट्र के गाँवों से बाहर निकलकर शहरों के बड़े-बड़े थियेटरों की शोभा बन गया है। महाराष्ट्र के दक्षिण पूर्व के कोंकण क्षेत्र में दशावतार जैसा सामुदायिक लोकनाट्य विशिष्ट कलाकारों और शास्त्रज्ञों के संपर्क से इसी तरह व्यावसायिक नाटक में परिवर्तित होगया।

इसी तरह दक्षिण भारत का यक्षगान और कथकली नाटक भी अपने लोकधर्मी स्वरूप को छोड़कर कालान्तर में व्यावसायिक और शास्त्रीय नाटकों के रूप में बदल गये। यक्शगान का सामुदायिक स्वरूप कुरवंजु कभी केवल गीति-कथाओं के रूप में गांवों में प्रचलित था। धीरे-धीरे उसने भी अनेक पौराणिक कथाओं को अपने में समेटकर व्यावसायिक नाट्यों का स्वरूप पकड़ लिया। १६ वीं शताब्दी के राजा-महाराजाओं का संरक्षण प्राप्त होने से वे सभी नाट्य अक्षगानी स्वरूप में आगये, जिनकी अदायगी विशिष्ट व्यावसायिक लोक कलाकार ही करने लगे। १८ वीं शताब्दी से पूर्व दक्षिण भारत में कथकली नाट्य केवल कथा–गान के रूप में विद्यमान था। गाँव के लोग नक्काड़े, मृदंग, बांसुरी, मजीरे आदि लेकर अपने इष्टदेवों के जीवन संबंधी गीत गाते और नृत्य करते थे। गाँव के खुले वातावरण में लोगों के सहयोग से ये नाट्य अंकुर रूप में प्रस्तुत किये जाते थे। बाद में यही नाट्य-परंपरा नंबूदरी ब्राह्मणों की सहायता से शास्त्रोक्त नृत्य-सामग्री प्राप्त कर कथकली जैसे सम्मुन्नत तथा अत्यंत विकसित शास्त्रीय नाट्यों में परिवर्तित हुई, जिसका प्रतिपादन विशिष्ट कलाकारों के अलावा किसी साधारण कलाकार द्वारा होना एक असाध्य कार्य था।

इन व्यावसायिक तथा शास्त्रीय कोटि के विशिष्ट नाटकों में उच्चकोटि के सधे हुए और परम्मुन्नत कला तत्वों के दर्शन अवश्य होते हैं, परन्तु वे एक सार्वजनिक तथा सामुदायिक समारोह का रूप धारण नहीं करते। उनमें सार्वजनिक उत्साह तथा सार्वजनिक सहयोग के दर्शन नहीं होते तथा इन नाट्यों के पात्र सामुदायिक नाट्यों के पात्रों की तरह जनता के स्नेह और श्रद्धा के पात्र नहीं होते। उत्तरभारत की रास लीलाएँ, रामलीलाएँ तथा विशिष्ट सामुदायिक जात्रा के पात्रों की जिस तरह नाट्य-समाप्ति पर आरती उतारी जाती है, उनके लिये मिठाइयों और उपहारों का ढेर लगजाता है, उस तरह का सार्वजनिक आदर इन व्यावसायिक नाट्यकारों को नहीं मिलता। सामुदायिक नाट्यों के पात्रों को नाट्यारंभ से पूर्व मिरची की धूणी दी जाती है, काले डोरों से उनके हाथों में गंडे बाँधे जाते हैं, ताकि उनपर कोई नजर न लगे। नाट्य की समाप्ति पर जनता उनकी आरती उतारती है। घर-घर उनका स्वागत सत्कार होता है तथा जिन घरों में उनका निवास होता है, वहाँ दीप जलाये जाते हैं व्यावसायिक नाट्य अभिनेताओं को आदर अवश्य मिलता है तथा उनकी उपलब्धियों पर उन्हें पर्याप्त मात्रा में धन भी मिलता है, परन्तु वे समाज के हृदय में सदा के लिये स्नेहपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं करते।

सामुदायिक नाट्यों के प्रदर्शन हेतु दूर-दूर से आये हुए दर्शनार्थियों के लिये समस्त गाँव निवास, भोजन, विश्राम आदि का प्रबन्ध करता है तथा उनका गाँव के अतिथि के रूप में स्वागत-सत्कार किया जाता है। लोकनाट्यों के सामुदायिक और व्यावसायिक स्वरूपों में एक सामान्य बात अवश्य है, जो इन दोनों को एक ही जाति में शुमार करती है, वह है इनका कथानक। नाट्य के इन दोनों ही स्वरूपों में काल्पनिक कथानकों के लिये कोई स्थान नहीं है। वे ही चरित्र लोकनाट्यों में चलते हैं, जिनका परिचय जनता को पहले से होता है तथा जो उनके जीवन के

साथ किसी न किसी तरह अनुष्ठानिक रूप में जुड़े हुए होते हैं। इन पात्रों में अधिकांश तो ऐसे होते हैं, जो जीवनादर्श के रूप में उनको प्रेरणा देते रहते हैं। उनमें से कुछ पात्र ऐसे भो होते हैं, जो कुत्सित एवं घृणित होते हुए भी, पूज्य चरित्र-नायकों के चरित्र को उभारने वाले होने के नाते जनता के चिर परिचित पात्र बन जाते हैं। जनता इन चरित्रों को अदायगी में किसो प्रकार का परिवर्तन या रूपान्तर नहीं चाहती, न उनसे सम्बन्धित गीत, नृत्य तथा प्रस्तुतीकरण और वेश-विन्यास के तरीकों में कोई भो आजादो पसन्द करती है। यदि उनकी आकांक्षाओं, स्वीकृत कल्पनाओं और मूल्यों के अनुकूल उनके पात्र नहीं उतरे तो चाहे वह प्रदर्शन सामुदायिक मंडलियों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ हो या व्यावसायिक, वे उस पात्र को रंगमच पर एक क्षण के लिये भी नहीं टिकने देते हैं। यही कारण है कि सामुदायिक मंडली के मुकाबले में कोई व्यावसायिक मंडली प्रदर्शन प्रस्तुत करती है तो उसमें किसी प्रकार की कमजोरी जनता बर्दाश्त नहीं करतो। इन व्यावसायिक मंडलियों द्वारा काल्पनिक प्रसंगों पर आधारित नृत्य–नाटिका प्रस्तुत करने का साहस इसलिये कोई नहीं करता, क्योंकि वे जानते हैं कि जनता उन्हें तुरन्त उखाड़कर फेंक देगी।

लोकनाट्यों का प्रस्तुतीकरण तथा दृश्य–विधान

लोकनाट्यों की विशेषता इसी में है कि वे अनौपचारिक ढंग से रंगमंच पर प्रस्तुत होते हैं। उनके लिये व्यवस्थित ढंग के डिबिया वाले रंगमंच, बिजली से चलने वाले दृश्यमय परदे तथा रंगमंच के विविध विधान की आवश्यकता नहीं होती है। इन नाट्यों में प्रशिक्षण तथा पूर्वाभ्यास की भी कभी आवश्यकता नहीं होती, न उनके लिये विशिष्ट पोशाकों की ही आवश्यकता होती है। साधारण जीवन में जो स्त्री पुरुष पोशाकें पहिनते हैं, वे ही रंगमंच पर भी प्रयुक्त होती हैं। पोशाकों का मोटा-मोटा वर्गीकरण केवल लिंगभेद के अनुसार होता है। लोकनाट्यों के

पात्र चाहे पौराणिक हों चाहे ऐतिहासिक, आचरण की दृष्टि से वे सदा ही आधुनिक बने रहते हैं।

दृश्यावली के सम्बन्ध में भी केवल प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। पूरे परदों का उपयोग लगभग वर्ज्य ही है। स्थल, स्थान तथा समय–परिवर्तन के सम्बन्धों में पात्रों के वाचन का ही पर्याप्त संकेत रहता है। कभी–कभी जंगल की जगह एक पेड़ की शाखा लेकर खड़ा होजाना ही केवल पेड़ ही नहीं, समस्त जंगल का भान करा देता है। रंगमंच के आरपार किसी नीले रंग के साफे को हिला देने मात्र से बहती हुई नदी का भान होजाता है। जिन अटटालिकाओं और मकानों की छतों पर बैठकर दर्शकगण नाटक का आनन्द लेते हैं, वे ही नाट्य के विशिष्ट दृश्य–स्थल बन जाते हैं। रंगमंच पर ही पात्रों द्वारा दस बीस दफे चक्कर लगा लेने से राम, लक्षमण सीता की वन-यात्रा समझ ली जाती है। रंगमंच की एक छोटी सी छलांग ही हनुमान द्वारा सीता की खोज के लिये सात समंदर की छलांग समझ ली जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस तरह रंगमंच के पात्र अपनी भूमिका की अदायगी में परम प्रवीणता का परिचय देते हैं, उसी तरह दर्शक भी अपनी विषद् कल्पनाशक्ति की अदायगी में पूर्ण पटुता का परिचय दें। उनकी कल्पना तो यहाँ कमाल दिखलाती है कि रंगमंच पर अभिनय करते हुए पात्र को एक स्थिति में तो वास्तविक नाट्य का पात्र मान लेती है और उसी समय किसी दूसरी स्थिति में दर्शक के समान ही साधारण मनुष्य। भगवान राम जब रंगमंच पर काम करते हुए थक जाते हैं तो तनिक विश्राम भी कर लेते हैं और दर्शकों में से बीड़ी मांगकर धूम्र-पान करते हैं। इस समय दर्शकगण उन्हें भगवान राम का स्वरूप नहीं मानते। वे सही माने में सच्ची भावना से राम का अभिनय करेंगे, तभी वे राम कहलावेंगे, शेष सभी क्षणों में वे प्रदर्शक बने रहेंगे, अभिनेता नहीं।

रंगमंच पर प्रवेश आदि के लिये भी किसी विशेष औपचारिकता की आवश्यकता नहीं होती। पात्रों का प्रवेश लोकनाट्यों में जिस विधि से होता है, वह अत्यन्त मौलिक और हृदय-ग्राही विधि है। भिखारी का अभिनय करने वाला नाट्य स्थलों से किसी निकटस्थ मकान की अट्टालिका से उतरकर रंगमंच पर आता है। यदि किसी पुलिस कोतवाल को किसी अभियुक्त को पकड़ना है तो वह दर्शकों में से ही किसी को पकड़कर रंगमंच पर ले आता है। ये रंगमंच पर लायेजानेवाले असम्बन्धित व्यक्ति भी इस तरह रंगमंच पर आने में अपना गौरव समझते हैं। दर्शक प्रदर्शकों का यह समन्वीकरण लोकनाट्यों की जान है।

लोकनाट्यों का अपना कोई विशिष्ट पोशाकघर भी नहीं होता। बहुधा तो वे पात्र अपने घरों से ही पोशाक पहिन कर आते हैं और दर्शकों में बैठ जाते हैं। कुछ पात्र अपनी पोशाकें दर्शकों में बैठकर ही बदल लेते हैं। चलते नाट्य में पात्र-परिवर्तन के प्रसंग में पोशाकों का आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक नहीं है। यदि किसी पुरुष पात्र को तत्काल ही किसी स्त्री की भूमिका अदा करनी है तो वह तुरन्त ही उसके शरीर पर चादर लपेटकर स्त्री का अभिनय करने लगता है। इसी तरह राजा का अभिनय प्रस्तुत करने वाला पात्र अपने सिर पर एक चमकदार पगड़ी रख देने से ही राजा मान लिया जाता है।

लोकनाट्यों में दर्शक प्रदर्शकों की पारस्परिक सहानुभूति तथा संवेदना बहुत ही मार्के की होती है। राजस्थान के लगभग सभी लोकनाट्यों में दर्शक-प्रदर्शकों का पारस्परिक योग नाट्य-प्रदर्शन को बहुत ही जानदार बना देता है। भवाई नाट्य में प्रासंगिक अप्रासंगिक अनेक ऐसे दृश्य आते हैं, जिनमें सौदा बेचने वाला बनिया तथा नाई के प्रसंग प्रधान रहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में जब उन्हें नाई और बनिये के प्रसंग पर रंगमंच पर प्रस्तुत करने होते हैं, तो दर्शकों में से किसी असली नाई और बनिये को रंगमंच पर ले आते हैं और अपना वांछित

अभिनय उन पर आरोपित करते हैं। दर्शकगण गाँव के इन दो दुष्ट तथा शोषक तत्वों की अच्छी बेइज्जती देखकर हंस–हंसकर लोट पोट होजाते हैं। देश का कोई नाट्य–प्रकार ऐसा नहीं है, जिसमें इस प्रणाली का प्रतिपादन नहीं होता हो। उत्तरप्रदेश की रामलोलाओं और कृष्ण-लीलाओं के भगवान राम और कृष्ण असली भगवान के ही स्वरूप समझे जाते हैं। प्रदर्शन के समय जनकपुरो में धनुष यज्ञ के समय समस्त दर्शक—समुदाय जनकपुरी के निवासो समझ लिये जाते हैं तथा राम–वन–गमन के दृश्य में जब राम सोता लक्षमण रंगमंच से नोचे उतरकर दर्शकों के बीच होकर वन को प्रस्थान करते हैं तो दर्शकगण अपने को अयोध्याको जनता समझकर भगवान के चरण स्पर्श करते हैं. उनके वियोग में झर-झर रोते हैं।

नाट्य प्रस्तुतीकरण की कला में लोकनाट्य बड़े बड़े उन्नत तथा आधुनिक शैली के नाटकों को भी बड़े-बड़े पाठ पढ़ा सकता है। इतने भव्य रंगमंचीय विधान, प्रकाश-व्यवस्था तथा खर्चीले नाट्य-प्रसाधन के बावजूद भी वे यह महसूस करते हैं कि जनता उनके साथ आतमसात नहीं करतो। उनकी अभिनयात्मक तथा रंगमंचोय व्यवस्था संबंधी सूक्ष्म से सूक्ष्म गलतियों को पकड़ कर उसे राई से पर्वत बना डालतो है। परन्तु लोकनाट्य प्रस्तुतीकरण के हर पक्ष के माने में अनायास ही दर्शकों के दिल में बैठ जाते हैं। जिस गाँव की नाट्य–मंडलो गाँव छोड़कर किसी दूसरे गाँव में जाती है, तो जनता का दिल फट जाता है। स्त्रियां फूट-फूट कर रोती हैं। विदाई के समय विशिष्ट स्वरूपों को सिरोपाव, नारियल तथा मिठाई की भेंट दी जाती है। गांव के लोग, जो बहुधा नाट्य में हंसी मजाक तथा सामाजिक कटाक्ष के शिकार बने होते हैं वे भी इस विदाई के समय अपने आपको बड़ा सूना-सूना सा महसूस करते हैं। गाँव का जागोरदार, जमोदार तथा धनाढ्य बनिया, जिनकी इन लोकनाट्यों में बुरी तरह मरम्मत होती है, इन नाट्यों के सबसे बड़े संरक्षक होते हैं।

लोकनाट्यों के प्रस्तुतीकरण की कला में राजस्थान का तुर्राकलंगी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसकी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, जो रंगमंच के दोनों तरफ विशेष रूप से उल्लेखनीय है, नाट्य प्रदर्शन में महत्वपूर्ण भाग अदा करती हैं। एक अट्टालिका से स्त्री पात्र उतर कर रंगमंच पर आते हैं तथा दूसरी से पुरुष पात्र। ये दोनों अट्टालिकाएँ एक तरह से नाट्य रंगमंच की साइड विंग्ज (**Side wings**) हैं, जिनमें पात्रों का प्रवेश खुले आम डंके की चोट होता है। प्रथम प्रवेश में ही जब ये पात्र २० फुट की ऊंचाई से ही अपने गीत संवादों की अदायगी प्रस्तुत करते हैं तो जनता के मानस पटल पर उनकी गहरी छाप अंकित हो जाती है दोनों अट्टालिकाओं के लम्बे फासले के बावजूद भी उनके पारस्परिक संवाद दर्शकों पर तीर की तरह चुभ जाते हैं। उन्हें किसी प्रकार का लाउडस्पीकर या माइक की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि लोकनाट्यों में प्रयुक्त होने वाले सभी पात्र मीलों दूर प्रसारित होने वाली बुलन्द आवाज में गाने के अभ्यस्त होते हैं।

इस नाट्य शैली में एक विशेष प्रणाली और है जो आकर्षण की वस्तु है। वह है पात्रों द्वारा अभिनय करते समय छड़ियां घुमाना। ये छड़ियां पात्र अपने हाथों में थामे रहते हैं। उनके सिरों पर कागज के अत्यंत आकर्षक फूल लगे रहते हैं। नृत्य के समय ये छड़ियां पात्रों की अंगभंगिमाओं के साथ घूमती रहती हैं और अत्यन्त मनमोहक दृश्य उपस्थित करती हैं। हजारों की संख्या में दूर-दूर बैठी हुई जनता को ये छड़ियां अभिनेताओं के अंगों के ही अंश प्रतीत होती हैं और दूरी के बावजूद भी पात्रों की क्रियाएँ स्पष्ट दिखलाई देती हैं। मेवाड़ की रासधारियों में भी मूल रंगमंच के साथ ही एक महल या अट्टालिका ऐसी बनाई जाती है, जिसमें नाट्य के अनेक महत्वपूर्ण कार्यकलाप दिखलाये जाते हैं। मध्य प्रदेश का माच जमी से आठ फीट ऊंचा बांधा जाता है, जिसपर पात्र अपने कार्यकलाप दिखलाते हुए अत्यन्त प्रभावशाली

मालूम होते हैं। ये माच इतनी ऊँचाई पर प्रदर्शित होते हैं कि कभी-कभी जनता अपनी छतों पर बैठ कर ही उनका श्रव्य और दृश्यलाभ ले लेती है। उसके नृत्यों व गीतों में इतनी ताकत होती है कि पनघट पर पानी भरतो हुई स्त्रियाँ उन्हें सुनकर ठिठकती हुई खड़ी रह जाती हैं। और रोटो पकाती हुई गृहिणियाँ अपना हाथ जला बैठतो हैं। ये माच–प्रदर्शक अपनी कलात्मक आदायगी के कारण अनेक स्त्रियां को मंत्रमुग्ध कर लेते हैं और उन पर ऐसा वशीकरण मंत्र छोड़ देते हैं कि कभी–कभी स्त्रियां अपनी हरी भरी गृहस्थी को छोड़कर इन माच वालों के साथ हो लेती हैं। यही कारण है कि माच--प्रदर्शन के समय आज भी पुलिस को अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है।

मेवाड़ के भीलों के गवरी नाट्य में तो उत्साह और भावोद्रेक का एक समुद्र ही देखने को मिलता है। नाट्य प्रदर्शन के समय जब उसका प्रमुख अभिनेता 'बुढ़िया' रौद्र रूप धारण कर लेता है तब दर्शकों में बैठो हुई स्त्रियां भावोद्रेक के कारण कंपायमान होजातो हैं। लौकिक दृष्टि से उसमें देवताओं का प्रवेश हुआ समझा जाता है। भगवान बुढ़िया जब अपनी मोरपंखी से उन्हें झाड़ते हैं, तभी वे चैतन्य अवस्था में आती हैं। उसी भावोद्रेक में गवरी के प्रदर्शक तीन-तीन मंजिल से जमीन पर कूद पड़ते हैं तथा पेड़ों पर चढ़े हुए डाकू-अभिनेता फूल की तरह जमीन पर लटक जाते हैं। ये सब चमत्कारिक घटनाएँ नाट्य को आकर्षक बनाने में समर्थ होतो हैं। कभी-कभी बनजारे की बालद गांव के एक छोर से गाती नाचती हुई रंगस्थली में प्रवेश करती है। कभी बादशाह की सवारी में सारा गांव शरीक होजाता है। कभी-कभो गांव की झोंपड़ियाँ ही कंजरों के डेरे बन जाती हैं। ये गवरो नाट्य, जो कि दिन में सुबह से शाम तक अभिनीत होते हैं, मूल ग्रामीण जीवन के अंश बन जाते हैं। कभी-कभी यह भी भान होना कठिन होता है कि नाटक कौनसा है और दैनिक जीवन की मूल-क्रियाएँ कौनसी हैं? नाटक के पात्र अपना

अभिनय करने के उपरान्त वहीं किसी पास के घर में जाकर सुस्ता लेते हैं और पुनः अभिनय में शामिल होजाते हैं। इसी तरह दर्शक भी कुछ देर प्रदर्शन देखकर अपना खेत संभालने चले जाते हैं और विशिष्ट प्रसंग में पूजा आदि के लिये पुनः लौट आते हैं। नाट्य का नायक 'बुढ़िया' जब थक जाता है तो अपना मास्क (*Mask*) किसी दर्शक के मुँह पर बाँध देता है और वह दर्शक बुढ़िया की भूमिका अदा करने लगता है। गवरी नाट्य इसी धार्मिक अनुष्ठान के रूप में सैंकड़ों वर्षों से होरहा है और दर्शक भी उसे अनेक बार देख चुके हैं, फिर भी वह चिर नवीन ही रहता है और दर्शक-प्रदर्शक अपना दैनिक कर्म करते हुए भी पारस्परिक सहयोग तथा समन्वय से इसे सफल बनाते हैं। दर्शक-प्रदर्शकों का यह अद्वितीय समन्वय भारतवर्ष में किसी भी नाट्य में परिलक्षित नहीं होता। सारा गांव ही प्रदर्शन-स्थल बन जाता है। इस नाट्य में सभी दर्शक-प्रदर्शक हैं और सभी प्रदर्शक-दर्शक भी।

गौरी नाट्य की संवाद विधि भी अद्वितीय है। देश के किसी नाट्य में उसके दर्शक नहीं होते। इस नाट्य में किसी प्रकार के औपचारिक शब्द या गीत संवादों का प्रयोग नहीं होता। नृत्य,अंग–भंगिमाओं तथा भाव-मुद्राओं से ओतप्रोत यह नाट्य दर्शकों के मन पर स्थायी प्रभाव डालता है तथा रौद्र, वीभत्स, वीर, श्रृंगार और हास्य रसों के परिपाक द्वारा उत्कृष्ट आनन्द की सृष्टि करता है। नाटक का सूत्रधार कुटकड़िया ही इस नाट्य का प्राण है। वही समस्त नाट्य के कथानकों को अपनी विशिष्ट संवाद-शैली में सुलझाता है। वह पात्रों से स्वयं प्रश्न करता है और उनका उत्तर भी एक विचित्र शैली में खुद ही देता है। गवरी नाट्य में कुटकड़िया के माध्यम से समस्त कथा का रहस्योद्घाटन स्वयं में एक अत्यंत रोचक और आकर्षक प्रक्रिया है।

लोकनाट्यों की भावाभिव्यंजना में अतिरंजना और प्रतीकात्मकता की प्रधानता रहती है। गद्य संवादों की अनुपस्थिति में गीत-नृत्यों के

माध्यम से प्रकट होने वाले प्रयोजन, अतिशयोक्ति, प्रतिशयोक्ति और प्रतीकों का आधार ग्रहण नहीं करें तो वे भी सार्थक नहीं हो सकते। क्रोध और आवेश प्रकट करने के लिये लोकनाट्यों का अभिनेता अपने पावों की नृत्य चालें अत्यन्त गतिमान और तीव्रतम कर देता है और आंगिक मुद्राओं को अतिरंजित कर एक विचित्र से तनाव की सृष्टि करता है। पृष्ठभूमि में गाये जाने वाले गीत संवाद की समाप्ति पर उसकी विशिष्ट चालें दर्शकों पर अद्वितीय प्रभाव उत्पन्न करती है। यक्षगान, दशावतार तथा कथाकली नाट्यों में पहाड़ पर चढ़ने का उपक्रम पात्र अपनी टांगें विचित्र ढंग से ऊपर नीचे रखकर करता है तथा बिना किसी पहाड़ या टीले पर चढ़े ही चढ़ने का अद्भुत प्रभाव उत्पन्न कर देता है। उत्तरप्रदेश की रासलीलाओं में जब वासुदेव भगवान कृष्ण को कंस की क्रूर दृष्टि से बचाने के लिये जमुना पार करते हैं तो रंगमंच पर अपने कपड़े उठाकर इस ढंग से चलते हैं कि बिना नदी दिखलाये ही नदी का प्रभाव उत्पन्न होजाता है। राजस्थानी ख्यालों, मध्यप्रदेश के माचों तथा महाराष्ट्र के तमाशों और ललित में अपने गीत संवादों के प्रयोजन को अधिक हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी बनाने के लिये संवाद–संलग्न पात्र एक दूसरे को पार करते हुए विपरीत दिशाओं में तीव्र गति से नाचते हैं और गीतों के मान पर चक्कर खाकर अत्यन्त चमत्कारिक ढंग से खड़े हो जाते हैं। यह पद्धति पूर्वी भारत की जात्राओं, दक्षिण भारत के यक्षगान तथा विधिनाट्य, कथाकली आदि में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त होती है। संवाद कथन की यह अद्भुत शैली भारतीय लोकनाट्यों का प्राण बन चुकी है। अंतर केवल इतना ही है कि किसी नाट्य शैली में स्वर प्रधान रहते हैं, किसी में शब्द तथा किसी में ताल। कथाकली और यक्षगान में संवाद–गान के अंत में ताल लय–संयुक्त पदचापों की प्रधानता रहती है। जब कि राजस्थानी ख्यालों और मालवी माचों में शब्दों की। उत्तरप्रदेश की रासलीलाओं, बंगाल की जात्राओं और बिहार

की विदिसिया में स्वरों का लालित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। संवाद गान के छंदबद्ध शब्द दर्शकों पर चुभ जाते हैं। कभो-कभी स्वरों की रसधार अमृतपान करती है और कभो तालबद्ध नृत्य की पदचापें दर्शकों को चकित कर देती हैं। अभिनेता के व्यक्तित्व की छाप किन्हीं विशिष्ट स्थितियों में दर्शकों पर अंकित होती है। लोकनाट्यों की यह परम प्रभावकारी युक्ति किसी भी आधुनिक नाट्यों में परिलक्षित नहीं होती। ये परिस्थितियां संवाद तथा नृत्यमय गीतों द्वारा पल-पल में उपस्थित होती हैं। दर्शकों की भावभमि पर बार-बार चोट पड़ने से वह आत्मविभोर होजाता है और नाट्य के अन्य सभी दोषों को भूलकर इन स्वर, ताल तथा आंगिक भंगिमाओं की चमत्कार पूर्ण अदायगी का कायल होजाता है।

लोकनाट्यों के प्रस्तुतीकरण में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उनकी अदायगी में रंगमंच, रोशनी, सजावट, दृश्य-विधान, वेश-विन्यास आदि कोई महत्व नहीं रखते। उनके प्रस्तुतीकरण की समस्त कला अभिनेताओं की नृत्य-गायन अदायगी तथा स्थिति, स्थान, प्रसंग, वेशभूषा, चरित्र तथा प्रयोजन की प्रतीकात्मकता में है। जो अभिनेता इन कलाओं में प्रवीण नहीं होता, उसका रंगमंच पर कोई स्थान नहीं है। लोकनाट्यों के अभिनेता सैंकड़ों में एक होते हैं। किसी औसत आदमी का उसमें काम ही नहीं है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट क्षेत्र में प्रचलित लोकनाट्य के विशिष्ट पात्रों के अभिनय के लिये कुछ ही विशिष्ट कलाकार होते हैं। या तो वे अपनी आजीविका के लिये व्यावसायिक नाट्य मंडलियों में शरीक होजाते हैं या सामुदायिक नाट्यों में बुलावे पर काम करते हैं। ऐसे कलाकार उस विशिष्ट क्षेत्र में चमक जाते हैं और दर्शकों के हृदय के हार होते हैं। उनके रंगमंच पर आने से जनता के दिल हरे होजाते हैं। वे दैनिक जीवनमें भी कलाकार बनकर ही रहते हैं। कोई दूसरा धंधा करने में वे असमर्थ

माध्यम से प्रकट होने वाले प्रयोजन, अतिशयोक्ति, प्रतिशयोक्ति और प्रतीकों का आधार ग्रहण नहीं करें तो वे भी सार्थक नहीं हो सकते। क्रोध और आवेश प्रकट करने के लिये लोकनाट्यों का अभिनेता अपने पावों की नृत्य चालें अत्यन्त गतिमान और तीव्रतम कर देता है और आंगिक मुद्राओं को अतिरंजित कर एक विचित्र से तनाव की सृष्टि करता है। पृष्ठभूमि में गाये जाने वाले गीत संवाद की समाप्ति पर उसकी विशिष्ट चालें दर्शकों पर अद्वितीय प्रभाव उत्पन्न करती है। यक्षगान, दशावतार तथा कथाकली नाट्यों में पहाड़ पर चढ़ने का उपक्रम पात्र अपनी टांगें विचित्र ढंग से ऊपर नीचे रखकर करता है तथा बिना किसी पहाड़ या टीले पर चढ़े हो चढ़ने का अद्भुत प्रभाव उत्पन्न कर देता है। उत्तरप्रदेश की रासलोलाओं में जब वासुदेव भगवान कृष्ण को कंस की क्रर दृष्टि से बचाने के लिये जमुना पार करते हैं तो रंगमंच पर अपने कपड़े उठाकर इस ढंग से चलते हैं कि बिना नदी दिखलाये ही नदो का प्रभाव उत्पन्न होजाता है। राजस्थानो ख्यालों, मध्यप्रदेश के माचों तथा महाराष्ट्र के तमाशों और ललित में अपने गीत संवादों के प्रयोजन को अधिक हृदयग्राहो और मर्मस्पर्शी बनाने के लिये संवाद–संलग्न पात्र एक दूसरे को पार करते हुए विपरोत दिशाओं में तीव्र गति से नाचते हैं और गीतों के मान पर चक्कर खाकर अत्यन्त चमत्कारिक ढंग से खड़े हो जाते हैं। यह पद्धति पूर्वी भारत की जात्राओं, दक्षिण भारत के यक्षगान तथा विधिनाट्य, कथाकलो आदि में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त होती है। संवाद कथन को यह अद्भुत शैलो भारतोय लोकनाट्यों का प्राण बन चुकी है। अंतर केवल इतना हो है कि किसी नाट्य शैलो में स्वर प्रधान रहते हैं, किसी में शब्द तथा किसी में ताल। कथाकली और यक्षगान में संवाद–गान के अंत में ताल लय–संयुक्त पदचापों की प्रधानता रहती है। जब कि राजस्थानो ख्यालों और मालवो माचों में शब्दों की। उत्तरप्रदेश को रासलोलाओं, बंगाल को जात्राओं और बिहार

की विदिसिया में स्वरों का लालित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। संवाद गान के छंदबद्ध शब्द दर्शकों पर चुभ जाते हैं। कभी-कभी स्वरों की रसधार अमृतपान करती है और कभी तालबद्ध नृत्य की पदचापें दर्शकों को चकित कर देती हैं। अभिनेता के व्यक्तित्व की छाप किन्हीं विशिष्ट स्थितियों में दर्शकों पर अंकित होती है। लोकनाट्यों की यह परम प्रभावकारी युक्ति किसी भी आधुनिक नाट्यों में परिलक्षित नहीं होती। ये परिस्थितियां संवाद तथा नृत्यमय गीतों द्वारा पल-पल में उपस्थित होती हैं। दर्शकों की भावभमि पर बार-बार चोट पड़ने से वह आत्मविभोर होजाता है और नाट्य के अन्य सभी दोषों को भूलकर इन स्वर, ताल तथा आंगिक भंगिमाओं की चमत्कार पूर्ण अदायगी का कायल होजाता है।

लोकनाट्यों के प्रस्तुतीकरण में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उनकी अदायगी में रंगमंच, रोशनी, सजावट, दृश्य-विधान, वेश-विन्यास आदि कोई महत्व नहीं रखते। उनके प्रस्तुतीकरण की समस्त कला अभिनेताओं की नृत्य-गायन अदायगी तथा स्थिति, स्थान, प्रसंग, वेशभूषा, चरित्र तथा प्रयोजन की प्रतीकात्मकता में है। जो अभिनेता इन कलाओं में प्रवीण नहीं होता, उसका रंगमंच पर कोई स्थान नहीं है। लोकनाट्यों के अभिनेता सैंकड़ों में एक होते हैं। किसी औसत आदमी का उसमें काम ही नहीं है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट क्षेत्र में प्रचलित लोकनाट्य के विशिष्ट पात्रों के अभिनय के लिये कुछ ही विशिष्ट कलाकार होते हैं। या तो वे अपनी आजीविका के लिये व्यावसायिक नाट्य मंडलियों में शरीक होजाते हैं या सामुदायिक नाट्यों में बुलावे पर काम करते हैं। ऐसे कलाकार उस विशिष्ट क्षेत्र में चमक जाते हैं और दर्शकों के हृदय के हार होते हैं। उनके रंगमंच पर आने से जनता के दिल हरे होजाते हैं। वे दैनिक जीवनमें भी कलाकार बनकर ही रहते हैं। कोई दूसरा धंधा करने में वे असमर्थ

रहते हैं और गाँव-गाँव बुलावे पर जाकर अपन जीवना धन्य समझते हैं। ये लोक कलाकार अपने इस काम को आजीवन बिना किसी आर्थिक आकांक्षाओं के शौकिया ढंग से करते हैं और द्रव्य सदा ही उनके पीछे दौड़ता है। जनता जनार्दन उनको हथेलियों पर उठाकर रखती है और उन्हें अपनी आजीविका के लिये एक क्षण भी कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

लोकनाट्यों में नारी

भारतीय लोकनाट्यों में नारी का अभिनय पुरुषों के जिम्मे ही रहता है। स्त्री को यह अवसर कभी प्राप्त नहीं होता। चाहे स्त्रियां अभिनय के लिये प्रचुर मात्रा में ही उपलब्ध क्यों न होती हों। स्वयं भील जाति के गवरी नाट्य में भी स्त्रियों का काम पुरुष ही करते हैं, जबकि उनके अन्य सभी नृत्यों में स्त्रियों को सम्मिलित होने की पूरी छूट है। दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, बंगाल, आसाम, उड़ीसा आदि के यक्षगान, कथाकली, कुचपुड़ी, तमाशा, जात्रा आदि लोकनाट्यों में पुरुष ही स्त्रियों का भाग अदा करते हैं, जबकि इन क्षेत्रों में सामाजिक दृष्टि से स्त्रियां प्रत्येक कलात्मक कार्य में अग्रणी रहती हैं। परन्तु फिर भी नाट्य की सफलता तथा प्रभावोत्पादकता के लिये स्त्रियों का कार्य पुरुष ही करें तो नाटक में रगत आती है, अन्यथा नहीं। उत्तर प्रदेश की आधुनिक नौटंकियों में कुछ मंडलियां अत्यन्त प्रवीण नर्तकियां प्रयोग करने लगी हैं, परन्तु यह देखा गया है कि जनता कुछ अंशों में तो उन्हें बर्दाश्त करती है, परन्तु उनका रंगमंचीय आधिपत्य उन्हें स्वीकार नहीं। किसी भी नाट्य की प्रमुख नायिका, विशेष करके चरित्रवान नायिका, का अभिनय पुरुषों द्वारा किया जाना ही गौरवपूर्ण समझा जाता है। हमारे समाज में ऐसी मान्यता भी घर कर गई है कि रंगमंच पर काम करने वाली अधिकांश स्त्रियां चरित्रहीन होती हैं और ऐसी भ्रष्ट नारियों द्वारा सती स्त्रियों तथा सन्नारियों का अभिनय कराना प्रतिष्ठा

के विरुद्ध है। आगरा की एक प्रसिद्ध नौटंकी में सती तारामती का अभिनय आगरा की प्रसिद्ध तवायफ मुन्नीबाई द्वारा किये जाने पर एक भयंकर अदावत होगई थी। इस लेख का लेखक स्वयं दर्शकों में मौजूद था। जब तक मुन्नीबाई के स्थान पर दर्शकों का मनचाहा बाल-अभिनेता चिरंजीव स्त्री वेश में तारामती का अभिनय नहीं करने लगा, दर्शकों ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। यह बात केवल स्त्रियों के अभिनय तक ही सीमित नहीं है, सच्चरित्र नायकों के चरित्र भी सच्चरित्र पुरुषों द्वारा ही अभिनीत होने चाहियें, ऐसी परम्परा भी भारत के लगभग सभी लोकनाट्यों में आज भी प्रचलित है। उत्तरप्रदेश की रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं के राम, कृष्ण, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदि चरित्रनायकों की भूमिका उच्चकुलीय सच्चरित्र तथा सदाचारी बालकों तथा युवकों पर ही निर्भर रहती है।

लोकनाट्यों में स्त्रियों के अभिनय के लिये स्त्रियों का प्रयोग वर्ज्य इसलिये भी है कि वे लोकनाट्यों के ओजपूर्ण और कष्टसाध्य कार्यों के लिये शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी योग्य नहीं समझी गई हैं। राजस्थान के भवाई नाट्य में तो भवाई अभिनेता अपनी स्त्री को उनके द्वारा अभिनीत होने वाले नाट्यों को देखने भी नहीं देते। यदि वे लुक छिपकर उन्हें देख भी लें तो उसी समय तलवार से उनके गले काट दिये जाते हैं। ऐसी घटनाएँ राजस्थान में अनेक बार हुई हैं और कई भवाइयों को इसी कारण आजीवन कारावास भी सहना पड़ा है। भवाई लोग अपनी स्त्रियों की सर्वाधिक कद्र करते हैं और उन्हें सोने चाँदी से भी लादे रहते हैं। उनकी प्रदर्शन यात्रा में वे साथ भी रहती हैं, परन्तु प्रदर्शन के समय उन्हें अपने खेमों में ही छिपा रहना पड़ता है। ये स्त्रियाँ नाट्य से पूर्व खेमों में ही अपने पतियों की सब सजावट करती हैं और वेशभूषा तथा अलंकरणों से लाद कर उन्हें संपूर्ण स्त्री का रूप धारण कराती हैं। इस भावना के पीछे प्रमुख मत यही है

कि रंगस्थली में काम करते समय वे अपनी स्त्रियों को देखकर कामातुर नहीं होजायँ और उनकी अभिनयात्मक अदायगी में कमजोरी न पैदा हो। प्रत्येक भवाई कलाकार २० वर्ष से नीचे की आयु तक ही स्त्री की भूमिका अदा करता है। सच पूछिये तो प्रत्येक भवाई कलाकार स्त्री पार्ट करने के लिये ही इस संसार में अवतरित हुआ है और भवाई नाट्य में इसीलिये स्त्री-चरित्र पुरुषों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। बीस वर्ष की आयु के बाद वे पुरुषों का अभिनय अवश्य करते हैं, परन्तु तबतक सच पूछिये तो उनके जीवन का वासन्ती-उल्लास समाप्त प्रायः सा हो जाता है। बीस वर्ष की आयु तक वह सामान्य जीवन में भी खूब सजाव श्रृंगार से रहता है और अपने आपको अत्यंत आकर्षक वेशभूषाओं से सुसज्जित करता है।

लोकनाट्यों में वास्तव में स्त्रियों का अभिनय स्त्रियोचित है भी नहीं। किसी भी स्त्री की यह समर्थ्य नहीं कि वह शाम से लेकर सुबह तक रंगमंच के कष्टसाध्य और पौरुषपूर्ण कार्यों को अदा कर सके। मध्यप्रदेश के विविध माच अभिनेता श्रीयुत फकीरचन्द का कहना है कि 'मर्द हो सो चढ़े माच पर' अथवा माच के काम में स्त्रियों का काम भी मर्दानगी और पुरुषार्थ का कार्य है। माच को तख्तातोड़ नाच भी कहते हैं। उसकी नृत्य-अदायगी इतनी कठिन और श्रमसाध्य है कि मामूली कार्य करने वाले के तो छक्के छूट जाते हैं। ढोलक की थापों पर पदों का द्रुत संचालन और शरीर की हृदय विदारक उछल कूद बड़े-बड़े बहादुरों को आश्चर्यचकित कर देती है। भवाई नाट्य में भाले को आकाश में फेंक देने के बाद पूरी रंगस्थली का तूफानी चक्कर लगाकर पुनः ढोलक के भान के साथ उसे उसी स्थान पर पकड़ लेने का काम किसी जादूगर का ही काम है। कथाकली, यक्षनाट्य और दशावतार के अभिनेता और अभिनेत्रियों की गगन स्पर्शी और तूफानी उछलकूद किसी सधे हुए और अनुभवी कलाकार का ही काम है।

मेवाड़ के गवरी नाट्य में माता राइयों को भूमिका अदा करने वाले पुरुष यदि स्त्री पात्र होते तो गवरी की अनुष्ठानिक और झंझावी चकरियों में वे कदापि साथ नहीं दे सकती थीं।

उत्तर प्रदेश की नौटंकियों में कोई भी धार्मिक तथा अनुष्ठानिक विशेषता नहीं होते हुए भी वहाँ रंगमंच पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्त्रियां बर्दाश्त नहीं होतीं। हर तरह से अपने अभिनय की सफल अदायगी के बावजूद भी वे दर्शकों की आँखों में खटकती हैं, कारण कि वे न तो सच्चरित्रा स्त्रियों की, और न कुचरित्रा स्त्रियों की भूमिका को वास्तविक स्वरूप में प्रस्तुत कर सकती हैं। नौटंकियों में स्वभाव से ही स्त्री पात्रों के लिये हल्के फुलके पद-संचालन की व्यवस्था पहले से ही है, फिर भी दर्शक यह नहीं चाहते कि स्त्रियां ही स्त्रियों की भूमिका अदा करे। वे चाहते हैं कि स्त्रियों का अभिनय करनेवाला अभिनेता बिना संकोच के वे सभी स्त्रियोचित भाव बतला सके जो आमतौर से एक स्त्री भी नहीं कर सकती। यही कारण है कि नौटंकियों में स्त्रियों का आधुनिक प्रयोग प्रायः असफल हीं रहा है। रात-रात भर असंख्य जन-समुदाय के सन्मुख निरंतर नाचते रहना और महीनों अपने समस्त परिवार से अलग होकर दिन रात एक गाँव से दूसरे गाँव को भटकते रहने का कार्य किसी हालत में स्त्रियों के हाथों में छोड़ देना खतरे से खाली नहीं है। यक्षनाट्य, कथाकली, विदिसिया, लावणी, माच, तमाशा, दशावतार आदि में अनेक बार स्त्रियां के उपयोग की दृष्टि से प्रयोग हुए, परन्तु वे बुरी तरह असफल रहे हैं। कारण यही है कि इन नाट्यों की गगनचुम्बी उछलकूद तथा भयंकर चालें उनके लिये असंभव सिद्ध हुई हैं और गायन में भी उनकी आवाजें पुरुषों को तरह फैल नहीं सकती हैं।

लोकनाट्यों में आधुनिक नाट्यों को तरह रंगमंचीय व्यवस्था, पोशीदा कपड़े पहिनने की सुविधा, दर्शकों से दूर डिबिया वाले रंगमंच, किसी भी प्रकार के विघ्न बाधा से मुक्त होकर काम करने की सहूलियत

नहीं रहती। उनमें दर्शक-प्रदर्शक बहुधा मिले भुले ही काम करते हैं। अनौपचारिकता के वातावरण में एक दूसरे में विशेष भेद भी नहीं रहता। स्त्री पात्रों के लिये यह अनौपचारिक स्थिति अनुकूल नहीं होती। वेश-भूषा, हावभाव, लूकाव छिपाव, खुलकर काम करने की स्वतंत्रता आदि की दृष्टि से लोकनाट्यों का यह समस्त वातावरण स्त्री सुलभ लज्जा और मान मर्यादाओं के लिये अनुकूल नहीं है।

लोकनाट्यों में प्रतीक, अतिरंजना, कल्पना तथा दर्शकों की सूझ-बुझ का आधार विशेष रहता है। जहाँ महल नहीं हैं, वहाँ भी महलों की कल्पना करनी पड़ती है। जहाँ जंगल नहीं हैं, वहाँ केवल एक डालो को ही जंगल मान लेना पड़ता है। जहाँ एक व्यक्ति पुरुष की भूमिका अदा करते हुए एक चादर अपने शरीर पर डालकर हावभाव करने लगता है, उसे भी स्त्री समझ लिया जाता है। वहाँ किसी लड़के या युवा पुरुष को स्त्री की भूमिका अदा करते हुए स्त्रियोचित सभी गुणों से सम्पन्न मान लेना बिलकुल ही कठिन नहीं है। यदि वह पुरुष गाने में निपुण, नृत्य में पारंगत है और अपने अभिनय में दर्शकों पर अमिट छाप छोड़ता है तो उसका भौंडा चेहरा और बेडोल शरीर भी दर्शकों को आकर्षक लगता है। उस भावोद्रेक की चर्मस्थिति में वे इन पुरुष पात्रों में अत्यंत सुन्दर कोमलांगी स्त्री के दर्शन कर लेते हैं। वह पुरुष पात्र भी अपनी अद्वितीय अभिनय-पटुता के कारण एक स्त्रो पात्र को तरह ही लोकप्रियता अर्जित कर लेता है।

लोकनाट्यों में स्त्रियों को रंगमंच पर नहीं लाने का एक कारण यह भी है कि कहीं किसो का गार्हस्थ्य जीवन नहीं बिगड़ जाय। बहुधा लोकनाट्यों में काम करने वाले अधिकांश पात्र दोन दुनियां से बेफ़िक रहते हैं। उन्हें व्यावसायिक मंडलियों में गांव–गांव घूम कर प्रदर्शन देने पड़ते हैं। अतः वे सदा ही जनता की आँखों के तारे बने रहते हैं। समस्त पारिवारिक सुख ही इनका भ्रमण में तथा मंडलियों के जीवन में निहित

रहता है। स्त्री कलाकारों को इन मंडलियों में रखने से स्थिति और भी बिगड़ सकती है। इन मंडलियों के कारण जब दर्शक समुदाय ही के पारिवारिक जीवन क्षत विक्षत हो सकते हैं तो स्वयं प्रदर्शकों के पारिवारिक जीवन का कहाँ निर्वाह हो सकता है। मध्यप्रदेश के माच किसी सार्वजनिक जीवन के लिये खतरा बने हुए थे। इन माचों से प्रभावित होकर अनेक स्त्रियाँ घर छोड़कर माचवालों के साथ भागती हुई नजर आई हैं। माच मंडलियों के पीछे पुलिस वालों की सदा ही आँखें लगी रहती हैं। सामाजिक और श्रृंगारिक नाट्य प्रस्तुत करने वाली मंडलियों के नैतिक स्तर बहुत ऊँचे नहीं रहते। धार्मिक भावना के प्रतिपादन के अभाव में इन्हें अपने श्रृंगारिक और व्यंग्य-प्रधान प्रसंगों से जनता की रुचि को पकड़े रहना पड़ता है। धार्मिक नाटयों के बोझिल उपदेशों के अभाव में श्रृंगारिक भावनाएँ अत्यधिक मनोरंजनकारी होती हैं। जनता की श्रृंगारिक प्रवृत्तियों को उभारती हैं। यही कारण है कि धार्मिक मंडलियों से कहीं अधिक सामाजिक और श्रृंगारिक नाट्य प्रस्तुत करने वाली मंडलियों की समस्याएँ हैं। आये दिन घर छोड़कर स्त्रियों के भागने के उदाहरण सामने आते हैं, इसलिये राष्ट्रीय दृष्टि से स्त्रियों का लोकनाट्यों में प्रवेश उचित नहीं समझा गया है। आधुनिक ढंग के नाटकों में स्त्रियों का प्रवेश प्राप्त करने की छूट इसलिये भी दे दीगई है कि ये नाटक अत्यन्त सभ्य तथा नियन्त्रित ढंग से होते हैं और अभिनेताओं को लोकनाट्यों के अभिनेताओं की तरह खुलकर घूमना तथा काम नहीं करना पड़ता।

एक विशेष बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह भी है कि जहाँ लोकनाट्यों में अपनी--अपनी भूमिकाओं की अदायगी का सवाल आता है, वहाँ स्त्री--पुरुष का भेद प्रायः नगण्य सा होता है। गीत--नृत्यों की तीव्रतम शैली दोनों ही प्रकार के पात्रों पर समान रूप से लागू होती हैं। उनकी अदायगी की शैली दोनों ही के लिये एक समान है। अतः

किसी स्त्री या पुरुष पात्र के लिये अभिनय सम्बन्धी कोई विशेष अंतर नहीं रहता। परम्परा से दर्शकों की रुचि इस तरह से रूढ़ होगई है कि उसमें कोई भी परिवर्तन संभव नहीं है। जबतक पात्र बुलन्द आवाज में नहीं गावें, तीव्रतम गति से नहीं नाचें, तबतक समस्त नाटक का रंग फीका ही रहता है। रंगमंचीय अभिनय में पात्रों द्वारा अभिव्यक्त किये हुए गीत–नृत्यों के अलावा लगभग सभी रूप-विधान की कल्पना दर्शकों को करनी पड़ती है। इन नाट्यों में नाट्य--लेखक, गोत-गायक और नर्तक का भाग सर्वोपरि रहता है। शेष रंगमंचीय परिस्थितियाँ, चरित्रानुकूल वेशभूषा, हावभाव, साज--सज्जा, रूप--स्वरूप की समस्त कल्पना दर्शकों पर ही आधारित रहती है। अतः पात्रों के बुलंद और सुरीले गले और उनके द्रुतगामो पद--संचालन ही से उनका मतलब रहता है, शेष सभो बातों की पूर्ति वे अपनी उर्वर कल्पना द्वारा कर लेते हैं। शेखावाटी के चिड़ावा के ख्यालों में ८० वर्षीय दढ़ियल दूलिया आज भी हीररांझा नाट्य के प्रदर्शन में सुन्दर हीर की भूमिका अदा करता है। उसकी अदायगी को समानता करनेवाला राजस्थान में आज तक भी नहीं जन्मा है। राजस्थानी लोकनृत्यों में स्त्री की भूमिका अदा करने वाले पुरुषपात्र बहुधा अपना मुँह घूंघट से ढककर ही रंगमंच पर उतरते हैं. इसलिये दाढ़ो मूंछ का प्रश्न तो आसानो से हल हो सकता है। राजस्थान में, चूंकि आमतौर से परदे की प्रथा है, इसलिये घूंघट में रंगमंच पर उतरनेवाले ये पात्र अस्वाभाविक नहीं लगते। होररांझा के अभिनय में ८० वर्षीय दूलिया जब होर बनकर रंगमंच पर उतरता है और अपनी अत्यन्त मर्मस्पर्शी गायकी और नृत्य-गरिमा से दर्शकों पर छा जाता है तो दर्शक ८० वर्षीय दढ़ियल की कल्पना नहीं करते। उनके कल्पना–जगत में अत्यन्त कमनीय शोड़षी हीर की ही भव्य मूर्ति प्रत्यक्ष रहती है।

भारतीय लोकनाट्यों में नारो का प्रवेश यदि कभी हुआ भी तो वह समस्त नाट्य परम्परा को बदलकर ही होगा। लोकनाट्यों की

प्राचीन पृष्ठभूमि तथा गौरव गरिमा को अक्षुण्ण रखते हुए भारतीय नारी अभिनेता के रूप में लोकनाट्यों में कभी भी प्रवेश नहीं पा सकेगी। यदि लोकनाट्य अपने गेय तथा नर्तय गुणों को त्यागकर अभिनेय गुणों को अपनाले तो लोकनाट्य नहीं रहेगा। दक्षिणभारत की कथाकली नाट्य शैली, जो कभी अत्यन्त प्रबल तथा सशक्त लोक शैली थी, आज अभिनेय गुणों के कारण अपना लोक पक्ष खो बैठी है और शास्त्रीय नाट्य में शुमार हुई है। असंख्य सार्थक हस्त, ग्रीवा, कटि आदि मुद्राओं से गीत तथा वाचन-विहीन भावाभिव्यक्ति की परम्परा जिन लोकनाट्यों में प्रविष्ट हुई है, वे अब तीव्र गति से शास्त्रीय नाट्यों में रूपान्तरित हो रहे हैं, साथ ही स्त्रियों का प्रवेश भी उनमें अब वर्ज्य नहीं है।

लोकनाट्यों के दर्शक

मनोरंजनात्मक प्रदर्शनों को प्रायः सभी पसंद करते हैं तथा उनके लिये किसी विशेष प्रकार के दर्शक-समुदाय की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु लोकनाट्य ही एक ऐसा विशिष्ट मनोरंजन है, जिसमें किसी विशेष प्रकार के दर्शक-समुदाय की आवश्यकता होती है। लोकनाट्यों के दर्शक और प्रदर्शक विशेष प्रकार के होते हैं। बचपन से ही उन्हें नाटक करने और देखने का शौक होता है। उनमें किसी प्रकार के संस्कार पड़े हुए होते हैं। ये नाटक उनके जन्म-मरण के साथी हैं तथा उनके साथ उनकी विशेष आत्मीयता है। दर्शकों को सदा ही यह आकांक्षा होती है कि उन्हें नाट्य प्रदर्शन के समय कभी भी रंगमंच पर चढ़कर अभिनय करने का अवसर प्राप्त होगा। रंगमंच पर काम करने वाले किसी थके हुए अभिनेता को विश्राम देने का कार्य दर्शकगण ही करते हैं। कोई भी उत्साही दर्शक इस महत्वपूर्ण काम को करने में अपना गौरव समझता है। जब वह रंगमंच पर चढ़ता है तो जनता तुमुल करतलध्वनि से उसका स्वागत करती है। उत्साह और सहानुभूति की इन

घड़ियों में इस स्थानान्तरित अभिनेता के कमजोर अभिनय में भी जनता एक उत्कृष्ठ अभिनय की कल्पना कर लेती है। कलाकारों का यह आदान प्रदान लोकनाट्यों को अत्यंत स्वस्थ परम्परा है, जो दर्शक प्रदर्शकों के बीच प्रगाढ़ आत्मीयता कायम रखती है। लोकनाट्यों के दर्शक हाकी या फुटबाल मेच के उन दर्शकों के समान हैं, जो अपने दल को विजयी बनाने के लिये प्रोत्साहन और प्रेरणा-स्वरूप करतल ध्वनियाँ करते हैं और खेल को समाप्ति तक जिनकी नसें तनी रहती हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे वे स्वयं क्रीडांगन में खेल रहे हैं।

लोकनाट्यों के दर्शकों की ये मनोभावनाएँ बरसों में तैयार होती हैं। निरंतर नाट्य देख-देखकर वे उनकी गहराई में पहुँच जाते हैं और उनकी वृतियाँ उनके अनुकूल बन जाती हैं। कोई नव आागन्तुक इन लोकनाट्यों को पसंद नहीं कर सकता। बिना गहरी सहानुभूति और समझ के उसे ये नाट्य अत्यंत प्राथमिक लगते हैं। यह भी मार्के की बात है कि इन नाटकों में बाल दर्शकों को संख्या बहुत ही कम रहती है, क्योंकि उनका मानसिक स्तर उन्हें समझने के लिये पर्याप्त नहीं है और न उन नाट्यों की अत्यधिक लम्बाई के अन्दर से कोई सार निकालने की उनमें क्षमता है। माता पिता स्वयं भी अपने बच्चों को इन नाट्यों से दूर रखते हैं।

इन नाट्यों के प्रति दर्शकों की रूचि इसलिये भी तीव्र रहती है कि उनके आत्मीय जन, नाती, पोती, सगे, संबंधी तथा मित्र उनमें काम करते हैं। उन्हीं के घरों की पोशाकों तथा जेवरों का उनमें प्रयोग होता है। उन्हीं के घरों की छतें, झरोखे तथा अट्टालिकाएँ उन नाट्यों की विविध रंगस्थलियां बनती हैं। सामुदायिक नाट्यों में इस प्रकार के उत्साह की पराकाष्ठा रहती है कि जनता बिना मांगे ही अपने घरों से श्रेष्ठतम पोशाकें लेकर नाट्य-स्थल पर जाती है। यदि कोई उनका

आत्मीय कलाकार ठीक पोशाक पहिनकर काम नहीं कर रहा है तो चलते नाट्य ही में वे उनकी पोशाक बदल लेते हैं। उत्तरप्रदेश की रामलीलाओं और बंगाल की जात्राओं में तो धार्मिक पात्रों की समस्त पोशाकें दर्शकों द्वारा ही भेंट दी हुई होती हैं। चलते प्रदर्शन में अनेक दुपट्टे तथा अंग परिधान सिरोपाव के रूप में भगवान को समर्पित किये जाते हैं।

दर्शकों में सभी लोकनाट्य संस्कारवत ही प्रविष्ठ होते हैं। कोई नया नाट्य वे बर्दाश्त नहीं करते। जिस तरह जनता के जीवन में होली, दीवाली, दशहरा जैसे त्यौहार वृहद अनुष्ठान के रूप में प्रवेश करते हैं और उनके साथ उनकी भावनाएँ जुड़ जाती हैं, उसी तरह ये लोकनाट्य भी उनके जीवन में महान अनुष्ठान के रूप में प्रवेश करते हैं। चाहे वे व्यावसायिक नाट्य ही क्यों न हों। दर्शकों की सदा ही यह वृति रहती है कि ये नाट्य गाँव की घनी बस्ती में ही हों और गांव के बीचोबीच अनेक घरों से आवृत चौराहों पर हो उनके मंच बनें। ताकि उनके घरां के चबूतरे, झरोखे, आंगन तथा उसकी समस्त सामग्री नाटकों के काम आ सके और उनका रंगस्थल बन सके।

जैसे किसी भोजन, व्यंजन के पीछे संस्कारवत कोई विशेष स्वाद रहता है, जो जन्म से ही जबान पर चढ़ जाता है। उसी तरह का स्वाद दर्शकों में इन नाटकों के प्रति भी होता है। प्रत्येक क्षेत्र के नाट्य-स्वाद अलग-अलग भी होते हैं। जिस तरह प्रत्येक क्षेत्र की वेशभूषा, रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार तथा गीत-नृत्यों के आकार प्रकार और धुनों में विशेषता रहती है और उनके प्रति वहां की जनता का लगाव रहता है। यही बात लोकनाट्यों के लिये भी लागू है। यही कारण है कि लोकनाट्यों की एक ही अदायगी में क्षेत्रीय विशेषताएँ होती हैं। एक विशिष्ट प्रकार का स्वाद होता है, जो उसी क्षेत्र के लोगों को विशेष पसंद होता है। अत: दर्शकों की मनोवृति भी उसीके अनुरूप

बन जातो है। सामाजिक और सामुदायिक नाटकों को तो ये दर्शक हर माने में अपने अनुकूल बना लेते हैं, परन्तु व्यावसायिक नाट्य मंडलियां भी इस बात को भली प्रकार जानती हैं। वे इतने सहजबुद्धि कलाकार होते हैं कि वे अपने नाटकों में क्षेत्रानुकूल ही वेशभूषाएँ पहिनते हैं और उन्हीं की धुनों में अपने गीत गाते हैं।

लोकनाट्यों के प्रदर्शनों में आगे को पंक्ति में बहुधा वे हो दर्शक बैठते हैं, जिनको अभिनेता खूब जानते हैं। यह जान पहिचान और मित्रता इन प्रदर्शनों को जानदार बनातो है। अभिनेता यदि दर्शकों से पूर्व परिचित न हो तो प्रदर्शनों में जो प्रेक्षक-अभिनयोकरण का मजा रहता है, उससे जनता वंचित रह जाती है। चलतेप्रदर्शनों में प्रदर्शक दर्शकों को संबोधित करता है तथा उनकी तरफ केन्द्रित होकर अनेक वाद संवाद करता है। दर्शक-प्रदर्शकों का यह पारस्परिक तारतम्य मूल नाटक को आघात पहुँचाये बिना ही अभिनय का जाल गुंथता रहता है। कभी-कभी इसो आत्मीयता के कारण अभिनेता एक पद का उच्चारण करता है और दर्शकगण उनका मूल पदों में ही जबाब देते हैं। इस तरह प्रश्न उत्तर को झड़ियां लग जाती हैं तथा लोकनाट्यों का कलेवर भी बढ़ता जाता है। सामुदायिक नाटकों के अलावा नौटंकी, माच तथा राजस्थानी ख्यालों के व्यावसायिक रूप में यह परम्परा अत्यंत स्वस्थ रूप धारण कर चुकी है। नौटंकियों की गायको तो इसी तरह रात-रात भर बढ़ती जाती है। अभिनेता जो पद नहीं गाते, वे दर्शक गाकर सुना देते हैं और पद-पद पर उनके लोकप्रिय गीतों की पंक्तियां बढ़ती ही चली जाती हैं। राजस्थान तथा मालवा के तुर्रा कलंगो के खेलों की रचना ही प्रेक्षक-अभिनयोकरण की परम्परा से ही होती है। लोकनाट्यों को इस विशिष्ट रचना-विधि को समझे बिना तथा उन नाट्यों में दर्शकों का कितना शक्तिशाली योग है, इसको जाने बिना कोई भी आगन्तुक दर्शक इन नाट्यों का मजा नहीं ले सकता।

इन नाटयों के वास्तविक दर्शक वे ही होते हैं जो कई दिनों तक रात भर जगने और दिन भर काम करने की सामर्थ्य रखते हैं तथा जिन्हें समस्त नाटक कंठस्थ याद रहते हैं। नाट्य की समाप्ति पर जब आरती फिरती है तो वे रुपया, पैसा, सोने चाँदी की अंगूठियाँ थाली में रखने को तैयार रहते हैं। कई दर्शक इन नाटकों के इतने रसीक होते हैं कि नाट्य मंडलियों के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते ही रहते हैं। बंगाल की जात्राओं में आज से ५० वर्ष पूर्व अनेक भक्तजन धार्मिक अनुष्ठान के रूप में साथ-साथ चलते थे। जब इन जात्राओं का यह यात्रा रूप समाप्त होकर रईसों और धनिकों द्वारा आश्रय पाकर केवल मात्र व्यावसायिक मंडलियों का रूप ही रह गया तो उसके साथ ही उसका धार्मिक स्वरूप भी नष्ट होगया और दर्शकों का लगाव भी उनसे धीरे-धीरे कम होता गया। बाद में बंगाल में १८वीं शताब्दी में ऐसी परम्परा चल पड़ी कि स्त्री पात्रों का अभिनय भी स्त्रियां ही करने लगीं। शिक्षित और धनिक समाज को पुरुषों का स्त्री बनना रचा नहीं, इसलिये केवल मनोरंजनार्थ ही स्त्रियां जात्राओं में प्रविष्ट होने लगीं। इस प्रवाह से जात्राओं का रहा सहा धार्मिक स्वरूप भी खत्म होगया और जात्राएँ केवल कुछ धनाढ्य लोगों के मनोरंजन का साधन बन गई। प्रदर्शक-दर्शकों के बीच जो पावन संबंध पहले विद्यमान था, वह बिलकुल ही नष्ट होगया तथा अनेक भक्तजनों तथा दर्शकों की रुचि इनसे हट गई। यात्रा का एक स्वरूप कीर्तनिया है जो केवल भक्त-जनों द्वारा ही प्रदर्शित होता है। इसमें भक्त दर्शक अपने को कीर्तनिया का ही एक अंग मानते हैं और प्रदर्शकों के साथ ही भावोद्रेक में गाते नाचते हैं। परन्तु १९ वीं शताब्दी में कीर्तनिया का स्वरूप भी व्याव-सायिक होगया और दर्शक स्वयं इस शैली से घृणा करने लगे।

उत्तर--प्रदेश की अनुष्ठानिक रामलीलाओं में तो दर्शकगण परि-स्थिति के अनुसार स्वयं ही नाट्य के अंग बन जाते हैं। सीता स्वयंवर

में दर्शक ही जनकपुरी के सभासद होते हैं। राम की बारात में समस्त दर्शक बराती बनकर जनकपुरी को प्रस्थान करते हैं। भगवान राम को वानर सेना में ये ही दर्शक बंदरों के चेहरे लगाकर लंकापुरी पर धावा बोलते हैं तथा लंका विजय के उपरान्त भगवान को सीता लक्ष्मण सहित अयोध्या में लाते हैं। जिस नगरी में यह लीला रची जाती है, उसके समस्त निवासी अयोध्यावासी बनकर अपने घरों में दीपक जलाकर भगवान का स्वागत करते हैं। काशी नरेश की रामलीला में दर्शक-प्रदर्शकों का विचित्र योग आज भी देखा जा सकता है। राजस्थान के तुर्रा कलंगी के खेलों में, जो आज भी सामुदायिक ढंग से ही खेले जाते हैं, दर्शक नाटक में बहुत ही महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। वृन्दावन की रासलीलाओं का दर्शक परम भक्त होता है। वह रास के राधा-कृष्ण को भगवान का असली रूप समझता है। रास समाप्त होने के उपरान्त दैनिक जीवन में भी इन स्वरूपों का भक्ति पूर्वक आवभगत करता है। मध्यप्रदेश के माच–दर्शक माच-प्रदर्शकों को अपना परम गुरु मानते हैं। दर्शक ही प्रदर्शक बन जायं, इसकी कल्पना माचों में नहीं की जा सकती। दर्शक माच-प्रदर्शकों का खूब सम्मान करता है परन्तु किसी भी परिस्थिति में वह उनके अतिशय कठिन और कष्टसाध्य काम को अदा नहीं कर सकता। अनेक दर्शक इन माच-प्रदर्शकों की अद्वितीय कला पर प्रभावित होकर उनके इशारों पर चलते हैं, परन्तु वे कभी भी माच-प्रदर्शक बनने के योग्य नहीं बनते। दक्षिण भारत के लगभग सभी लोकनाट्यों में दर्शक-प्रदर्शक–संबंध इतना प्रगाढ़ नहीं है, क्यों कि वहां के लगभग सभी लोकनाट्य व्यावसायिक बन गये हैं।

आमतौर से भारतीय लोकनाट्यों में दर्शकगण नाट्यावलोकन के लिये रंगस्थली पर जाते हैं, परन्तु भारत के बहुरूपी नाटक स्वयं दर्शकों के पास जाते हैं। दर्शकगण अपने-अपने घरों और दुकानों पर अपने काम में व्यस्त रहते हैं और प्रदर्शक स्वांग बना कर घर-घर दुकान-दुकान भटकते हैं और अपनी लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं।

ये लीलाएँ कई दिनों तक चलती रहती हैं और प्रत्येक दर्शक के सन्मुख एक ही दिन में बार-बार प्रदर्शित होती हैं। इस तरह अनेक लीलाएँ महीनों तक चलती हैं और उनकी समाप्ति पर अपने दर्शकों से ये पर्याप्त इनाम प्राप्त करती हैं। दर्शकों के इस विशृंखल समुदाय की विभिन्न रुचियों को ये बहुरूपिये खूब जानते हैं। अतः प्रत्येक प्रदर्शक के सामने इनका एक ही अभिनय विविध रूप ग्रहण करता है। दर्शकों को इस विभिन्नता ने इन बहुरूपियों को अतिशय चतुर और गुणी बनाया है। अपनी आश्चर्यजनक कला के माध्यम से ये अपने दर्शकों पर अतिशय कटाक्ष करके भी लोकप्रियता अर्जित करते हैं।

महाराष्ट्र के परम्परागत तमाशे भी किसी समय दर्शकों के दरवाजे-दरवाजे पर फिरा करते थे और एक ही रात में दर्शकों का मनोरंजन करके धन और कीर्ति दोनों ही प्राप्त करते थे। तमाशे के दर्शक अभी भी बड़ी रुचिपूर्वक इन तमाशों को देखते हैं और किसी भी शर्त पर उनके साथ स्वयं नाचने भी लगते हैं। तमाशे के दर्शकों का कोई विशेष स्वरूप नहीं होता। तमाशे का स्नेह जन्म से ही उनके साथ चलता है तथा तमाशे के साथ ही वे अपना स्थान भी बदलते रहते हैं।

लोकनाट्यों के दर्शकों पर किसी प्रकार का आरोपण कारगर नहीं होता। आधुनिक नाट्यों में टिकट लगाकर जो दर्शकों को प्रविष्ट करने की पद्धति है, वह लोकनाट्यों में नहीं चल सकती। टिकट खरीद कर नाटक देखने जाना दर्शक अपना घोर अपमान समझता है। जैसे वह अपनी ही धरोहर को पैसा खर्च करके पा रहा हो। वैसे अनौपचारिक रूप से दर्शक इन नाट्यों को तैयारी में सैंकड़ों रुपया खर्च करते हैं, परन्तु टिकट खरीद कर प्रदर्शन देखना इनको कभी नहीं रुचता। संसार में यही एक नाटक प्रणाली है, जो विना पैसा खर्च किये देखी जासकती है। नाट्य की अदायगी को दर्शक प्रदर्शक कभा भी पैसों के मूल्य से नहीं आंकते। व्यावसायिक मंडलियाँ भी आर्थिक दृष्टि से अपने दर्शकों

पर ही निर्भर रहती हैं, परन्तु दर्शक यह कभी नहीं चाहेंगे कि यह रकम उनसे भी टिकटों के रूप में वसूल की जावे। लोकनाट्यों के शौकीन दर्शक अपनी तरफ से अधिक से अधिक खर्च करके हजारों को निःशुल्क दिखलाने में अपना गौरव समझते हैं। अतः लोकनाट्यों का वास्तविक दर्शक अपना हृदय देकर नाट्य देखता है, पैसा देकर नहीं। भारतवर्ष के जो नाट्य टिकटों से प्रदर्शित होते हैं, वे लुप्तप्राय हो हैं। बिना टिकट जहाँ नाट्य होते हैं, वहाँ चाहे दर्शकगण अपनी तरफ से टिकटों पर एक भी पैसा खर्च न करते हों परन्तु फिर भी लोकनाट्यों को समाप्ति पर वे खाली जेब ही घर लौटते हैं। नाट्य स्वयं में इतने प्रसंग आते हैं जब दर्शकों की जेबों से अनजाने ही पैसा प्रदर्शकों की जेबों में जाने लगता है। भावोद्रेक की यह परम स्थिति बिरले ही भाग्यशालियों को प्राप्त होती है। इस तरह श्रद्धापूर्वक जमा किया हुआ धन नाट्य की अभिवृद्धि के लिये ही प्रयुक्त होता है।

लोकनाट्यों की विशिष्ट संगीत तथा नृत्य-पद्धति

साधारणतया दैनिक जीवन के प्रसंगों में गाये जाने वाले नृत्य-गीत लोकनाट्यों में प्रयुक्त होनेवाले गीत-नृत्यों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। इन गीतों की बन्दिशें तथा शब्द-रचनाएँ एक दूसरे से बिल्कुल अलग होती हैं। इन दोनों के गायक, नर्तक भो अलग-अलग होते हैं। रंगमंच पर नाट्य-प्रदर्शन के समय गाने वाला कलाकार साधारण जीवन में उसी गीत को फटे बांस को तरह गाता है, जबकि उसकी रंगमंचीय अदायगी अत्यन्त मधुर ढंग से होती है। इसी तरह जीवन में इधर उधर धक्के खानेवाला दुर्बल व्यक्ति जब रंगमंच पर उतरता है तो तीर की तरह नाचने गाने लगता है। इन कलाकारों का कहना है कि रंगमंच पर उतरते हो नाटक की सरस्वती इनकी जिव्हा पर बैठ जाती है। गीतों की रचना में भी संवाद-वहन की अद्वितोय शक्ति होतो है। चूंकि हजारों दर्शक इन नाट्यों को देखते हैं और उनमें ध्वनि

–विस्तारक यंत्र का प्रयोग नहीं होता है, इसलिये इन गीतों की स्वर-रचनाएँ अधिकांश तार सप्तक ही में घूमती रहती है। वे इस तरह निर्मित होती हैं कि उनमें स्वर–गुंफन कम होता है तथा संवाद वहन की शक्ति अधिक होती है। ये गीत इन लोकनाट्यों में प्रश्नोत्तर के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इन गीतों में स्वर ताल का जंजाल नहीं होता और वे सीधे दर्शकों के मन पर तीर की तरह चुभते हैं। ये गीत, रंगमंच पर ही रचे जाते है और उनको यदि नाटक से असंबद्ध करके गाया जाय तो वे बहुत ही फीके लगने लगते हैं। इन गीतों में भी विविध रसों के अनुसार उनकी बंदिशें होती हैं। क्रोधायुक्त तथा आवेशपूर्ण संवादों में इन गीतों की स्वर--रचनाएँ गीत की गेय प्रणाली को छोड़कर ताल बद्ध गद्य--प्रणाली में उतर आती है, जिनमें ताल स्वर अवश्य होते हैं, परन्तु गाते समय ऐसा प्रतीत होता है, जैसे केवल शब्दोच्चार होरहा है। इसी प्रकार करूणापूर्ण प्रसगों के गीतों की बन्दिशें धीमी और वक्र चलने वाली झूमरा, तवरा, दी पचंदी जैसी तालों में ही बन्धी रहती है। विलाप के गीतों में कोमल स्वरों की प्रधानता रहती है और बहुधा पीलू सोहनी रागों की छाया से वे आवृत रहते हैं। वे विशुद्ध लोक शैली में ही गाये जाते हैं, परन्तु उनकी बन्दिशों का प्रभाव जनता को रूला-रूलाकर छोड़ देता है। उनकी लय इतनी मंद गति में होती है कि कभी--कभी नक्काड़ा, ढोलक और तबले की संगत बंद करनी पड़ती है। साधु संतों के गीत भी इसी तरह शान्तरस--संयुक्त होते हैं और इनकी बंदिशें भी मर्म को स्पर्श करती है। राग, रंग, हर्ष, उल्लास के क्षणों में ये गीत अपनी कलात्मक पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं। गीत लय की मस्ती में स्वर ताल की प्रतिस्पर्धा चलने लगती है और संवादों की लम्बाई भी बढ़ती जाती है। ये गीत दमतोड़ गीतों में शुमार होते हैं।

नाट्य गीतों के स्थाई अंतरे बहुधा एक दूसरे में निहित रहते हैं तथा स्पष्ट तौर से कभी भी बाहर नहीं आते हैं, इनकी धुनें लय–प्रधान

होती हैं। गीत का प्रथम चरण समाप्त होते ही अभिनेताओं के पांव थिरकने लगते हैं और वे अपनी पदचापों से अनंत बोलों को सृष्टि करते हैं। उस समय भावोद्रेक और उत्साह के वातावरण में लयताल संबंधी अनेक उत्कृष्ट कल्पनाएँ साकार होतीं हैं, जिनका शास्त्रीय संगीत या नृत्य से कोई संबंध नहीं रहता। कभी-कभी ये कल्पनायें साजिन्दों तथा विशिष्ट कलाकार की प्रतिभा पर ही नहीं निर्भर रहतीं बल्कि समस्त नाट्य–दल ही अपनी अद्वितीय कल्पनाओं में थिरक उठता है। राजस्थान के गवरी नाट्य में प्रत्येक प्रसंग के बाद समस्त कलाकारों की एक अद्वितीय गम्मत होती है, जिसे समस्त नाटक की टेक या स्थायी समझनी चाहिये। इस टेक में सब कलाकार मांदल–थाली की झंकार पर अद्वितीय अंग–भंगिमाओं की सृष्टि करते हैं। गवरी नाट्य की यह सामूहिक गम्मत समस्त नाटक की प्राण है तथा उसका विशेष स्वरूप निर्धारित करती है। मध्यप्रदेश के माच" तथा उत्तर प्रदेश की "नौटंकियों" में यह टेक अद्वितीय पद–संचालन तथा ढोलक, नक्काड़ा–वादन में परिणत हो जाती है। टेक के समय नाट्य के मूल गीत या नृत्य कहीं धरे रह जाते हैं और कलाकार तथा वाद्यकार की सहज उपज ही सर्वोपरि रहती है। महाराष्ट्र के "तमाशे" में यह टेक तमाशे की नर्तकी को अपने कला-प्रदर्शन की पूर्ण स्वतंत्रता दे देती है और उसे अपने नृत्य–गीत प्रदर्शन द्वारा पूर्व अभिनीत समस्त नाट्य–प्रसंग को सार रूप प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। भवाई तथा राजस्थान की रासधारियों में यह टेक ढोलक की अद्वितीय चाल पर कलाकारों को समस्त प्रेक्षास्थली में घूमकर नृत्य दिखलाते हुए पुनः मूल रंगस्थल पर आने को बाध्य करती है। "कथाकली" और "यक्षगान" में यह टेक कलाकारों को धरती से गज-गज भर ऊपर उछलने और अपनी अंग भंगिमाओं तथा पद-संचालन के अद्वितीय प्रदर्शन का मौका देती है। उत्तरप्रदेश के "रास" में प्रत्येक प्रसंग की समाप्ति पर यह टेक गोप–गोपिकाओं के बीच श्रीकृष्ण को अनेक सामुहिक रास महारासों में अपना चमत्कार दिखलाने का अवसर

Nasib Singh Mo

देती है। उस समय गोप–गोपिकाओं के बीच कृष्ण अनेक कृष्ण बन जाते हैं, वे कभी गोपियों की बगल में नज़र आते हैं, कभी राधा के गले में लिपट जाते हैं तथा कभी घुटनों के बल समस्त रंगस्थली का चक्कर लगाते हैं।

गीतों की इस गेय पद्धति को दृष्टि से मध्यप्रदेश के माच और महाराष्ट्र के तमाशे सर्वोपरि हैं । माच और तमाशों में नृत्य से भी अधिक गीतों की प्रधानता है। अभिनय करते समय कलाकर गीत की एक अद्वितोय धुन उठाता है और टोप पर जाकर आलाप बांधता है। ये आलपें बहुधा तीन चार स्वरों में संचरित होती हैं और अंत में जाकर किसी एक स्वर पर टिक जाती है। मध्यप्रदेश के माचों में ये धुनें रंगतों का स्वरूप धारण करती है और दोकड़ी, इकहरी और लंगड़ो में इनका स्वरूप निखरता जाता है। इन टेकों के उपरान्त माचों में साधारण और सरल धुनों में संवादों की व्यवस्था होतो है, जिनकी रचना दोहा-पद्धति से होती है, प्रत्येक संवाद के बाद फिर टेकें दोहराई जाती हैं। महाराष्ट्र के तमाशे में जब सुरतिये गा–गाकर दर्शकों का अभिवादन करते हैं, उसके बाद हो नर्तकी सौलह श्रृंगार में अपने नाट्य–अभिनेताओं के साथ प्रवेश करती है। बहुधा श्रृंगार में डूबो हुई लावणी की धुन में नर्तकी अपना चमत्कार बतलातो है और फिर नाटक के पात्र पवाड़ा छंद में संवाद करते हैं और अंत में नर्तकी पुन: उनकी टेक पकड़ कर समस्त नाट्याभिव्यक्ति को चार चाँद लगा देतो है।

दक्षिण भारत के यक्षगान तथा कुचपुड़ो नाट्यों में भी प्राय: यही महाराष्ट्र को पद्धति अपनाई जाती है। उनमें एक विशेष बात यह हैं कि प्रत्येक अभिनेता गीतों में पद गाता है और उनको अंग भंगिमाओं द्वारा अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की यह सूक्ष्म पद्धति भारत के किसी लोक नाट्य में नहीं है। अर्थ निकालने की इस पद्धति में इन अभिनेताओं का अंग प्रत्यंग काम आता है और अंगों की पूर्व-निश्चित मद्राओं से

वह अर्थ और भी अधिक सार्थक हो जाता है। उत्तरभारत की अन्य सब नाट्य-शैलियों में अंग प्रत्यंगों द्वारा अर्थ निकालने की इतनी सूक्ष्म प्रणाली का प्रतिपादन कभी नहीं होता। उनमें संवाद गीतों की समाप्ति पर नृत्य गीतों की लयदारी में और उनकी पेचीदगियों में अभिनेता इतने उलझ जाते हैं कि कभी-कभी उनका अभिनय पक्ष दुर्बल हो जाता है। दक्षिण भारत के प्रायः सभी लोकनाट्यों में नाट्याभिनय तथा संवादात्मक गीतों की प्रधानता रहती है तथा नृत्य गौण होते हैं। उत्तर भारत की लगभग सभी नाट्य-शैलियों में गीत और नाच नाट्य को दबा देते हैं और ऐसे अप्रासंगिक प्रसंगों को दर्शकों के मनोरंजनार्थ बीच में लाना पड़ता हैं कि समस्त नाट्य की आत्मा ही मरने लगती हैं।

पंजाब तथा हरियाणा के स्वागों में गीतों की सर्वाधिक प्रधानता रहती है। उनमें पंजाबी तथा हरियाणी गीतों की गंगा बहती है तथा नृत्यों की न्यूनता रहती है। इन स्वांगों में अधिकांश प्रसग प्रेमाख्यानों पर आधारित रहते हैं, अतः प्रेम-गीतों की रचनाएँ उनमें प्रमुख होती हैं। ये गीत बुलन्द आवाजों में गाये जाते हैं और अंत में लम्बी-लम्बी आलापें उनके साथ जुड़ जाती हैं, अभिनेता एक दूसरे के सामने दल बनाकर खड़े होजाते हैं, संवादों में समस्त दल ही गा उठता है, उससें मूल पात्र का पता लगना बहुत मुश्किल होजाता है। ये धुनें इतनी मार्मिक होती है कि दर्शक रात-रातभर उनको सुनकर मर्माहित होते हैं।

उत्तरप्रदेश की रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं के गीतों में एक विशेषता रहती है। वे लोकनाट्य तुलसीकृत रामायण और भागवत जैसे शास्त्रों पर आधारित रहते हैं अतः इन नाट्यों के गीत अलग से नहीं रचे जाते हैं। इन ग्रन्थों के प्रति जनता की इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा है कि कोई अन्य गीतकार इन नाट्यों के लिये अलग से संवाद-गीत लिखने की धृष्टता नहीं करता है। ये गीत नाट्य-पद्धति के अनुकूल

नहीं होते हुए भी इन्हें समाज में श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया है। तुलसीकृत रामायण के दोहों, चोपाइयों की गायन विधि नाट्योचित नहीं होने के कारण उनका अर्थ अभिनेताओं द्वारा गद्य में उलथाने को परम्परा डाली गई है, जिससे समस्त नाट्य-प्रणाली में जान सी आगई है। रामलीलाओं में कहीं भी संगीत और नृत्य की प्रधानता नहीं है। उनको रामायणपाठी विशेषज्ञ का रामायणपाठ ही सर्वोपरि है। राम जीवन सम्बन्धी कथानक समस्त हिन्दू समाज के लिये श्रद्धा का विषय होने के कारण यह लोक-नाट्य नाट्य-गुणों के अभाव के बावजूद भी अत्यन्त लोकप्रिय बन गया है। इनकी लोकप्रियता में विशेष स्थलों का दृश्यविधान, पात्रों की वेशभूषा तथा कथानक की विविधता ने चार चाँद लगा दिये हैं। मथुरा शैलो की रगमंचोय रामलीला, जिसका प्रादुर्भाव पारसी नाटक की प्रेरणा से हुआ है, तुलसीकृत रामायण की गेय प्रणाली के साथ अपनो स्वतन्त्र गायन विधि के कारण भी लोकप्रिय बन गई है। इनका मूलपाठ तुलसीकृत रामायण को चौपाई तथा दोहों के माध्यम से होता है, परन्तु बीच-बोच में तुलसीकृत गीतावली के रागबद्ध गीतों की गायकी से इस प्रणालो में प्राणों का संचार हुआ है। धौलपुर, भरतपुर में पिछले ५० वर्षों में रामलीला की एक विशिष्ट प्रणालो का विकास हुआ है, जिसमें तुलसीकृत रामायण की चौपाइयों को अक्षुण्ण रखते हुए बीच की कड़ियों को विशिष्ट गोतों से जोड़ा गया है। इन गोतों में लोक गायको का एक बहुत ही स्वस्थ स्वरूप परिलक्षित होता है। इस विशिष्ट रामलीला का एक सार्वजनिक संगठन आज भी इन क्षेत्रों में विद्यमान है, जिसके पास ५० वर्ष पूर्व लिखित इस विशिष्ट रामलीला का स्क्रिप्ट है। इस विशिष्ट प्रणाली पर निश्चित ही नौटंकियों और राजस्थानी ख्यालों की गायकी का प्रभाव स्पष्ट है। इस रामलीला में लावणी के प्रकार में कालिगड़ा तथा भैरवी की धुनों को विशेषता है। नौटंकियों के बहरे तबोल के ढंग

के छंदबद्ध गीत भी इस रामलीला में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। हाथरस निवासी श्री नत्थाराम के चौबोलों के ढंग के गीत भी इस रामलीला में प्रवेश प्राप्त कर गये हैं। राजस्थान के पूर्वी क्षेत्र की इस विशिष्ट रामलीला में निश्चित ही उत्तरप्रदेश की सभी रामलीलाओं की गायन पद्धति का समन्वय हुआ है। भरतपुर की स्थायी रामलीला समिति के भवन में आज भी दशहरे के एक माह पूर्व इस विशिष्ट गायकी में रामलीला के भावी पात्र प्रशिक्षित किये जाते हैं और रामलीला के विविध दृश्य-स्थल नगर के चारों ओर निर्मित होते हैं।

ब्रज की रासलीलाएँ भी प्रसिद्ध भक्त कवियों की रचनाओं पर आधारित रहती हैं। लीलाओं का प्रचलन अधिकांश मंदिरों तथा भक्तजनों के प्रांगण में होने के कारण उनका लगाव पंडितों, प्रवरों, आचार्यों तथा शास्त्रज्ञों से बहुत रहा है, इसीलिये इन लीलाओं में शास्त्रीय ध्रुपदों, शास्त्रीय नृत्यों तथा शास्त्रोक्त कथानकों की त्रिवेणी बहती है। प्रसिद्ध भक्तकवि नंददास, ध्रुवदास तथा बृजवासीदास की रचनाओं तथा गायकी का इन रासों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है इन लीलाओं की ध्रुपद गायकी मुस्लिम घरानों की ध्रुपद गायकी से भिन्न है तथा उसके साथ जो रास बांधे गये हैं, उनकी नृत्य-मुद्राएँ कत्थक नृत्य से प्रभावित होते हुए भी प्राचीन नटवरी शैली का भान कराती हैं। जहाँ रामलीलाओं में नृत्यों का नितान्त अभाव रहा है, वहाँ रासलीलाएँ नृत्यों से व गीतों से भरपूर होती हैं। रामलीलाओं के चरित्र नायक भगवान राम के गंभीर तथा नीतिज्ञ जीवन के साथ मेल नहीं खाते, परन्तु भगवान नटवर कृष्ण की जीवन लीलाएँ नृत्य-प्रधान होने के कारण ये रास भी नृत्यमय होगये हैं। रासलीलाओं की नृत्य-प्रणाली में जहाँ शास्त्रीय नृत्य की छाप है, वहाँ लोक शैली के डांडिया नृत्य का भी पर्याप्त प्रभाव है। इन लीलाओं के संवादों के साथ जो गीत जुड़े हुए हैं, उनपर शास्त्रीय संगीत का प्रचुर प्रभाव होने पर भी उनमें संवादों को परिपुष्ट करने की प्रबल शक्ति है।

रासलीला की एक पुष्ट परम्परा मणिपुर में भी है, जिसके समस्त गीत, नृत्य लोक शैली से अनुप्राणित हैं। इसमें मणिपुरी गीतों के साथ मणिपुरी नृत्य की अनुपम छटा निखर आई है। ब्रज की रासलीला और मणिपुर की रासलीलाओं में गीत, नृत्य की दृष्टि से कोई साम्यनहीं है। ब्रज की वर्तमान रासलीलाओं में सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवियों की कवित्तमय गायकी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा हैं,परंतु इन गीतों की बंदिशों में कहीं भी अभिनयात्मक पक्ष नहीं है। ये गीत संगीत मंडली द्वारा अलग से गाये जाते हैं तथा अभिनेता उनके अर्थ उलथाता है। प्रत्येक प्रसंग की समाप्ति पर समस्त रासमंडली सामूहिक रूप से नाचती है। चरित्र नायक भगवान श्री कृष्ण की लीलाओं से सभी भक्तजन रिचित होते हैं। अतः इन लीलाओं के लिये अन्य लोकनाट्यों की तरह अलग से संवादात्मक गीतों की आवश्यकता नहीं होती है। जहाँ संवादों की आवश्यकता होती है, वहाँ गद्य का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में होने लगा है।

बंगाल की जात्राओं में भी संवादात्मक गीतों का नितान्त अभाव होने के कारण अधिकांश जात्राएँ आधुनिक नाटकों की तरह गद्य-संवादों में अभिनीत होती हैं। जात्राओं का वह पुरातन, धार्मिक तथा गेय स्वरूप प्रायः लुप्त ही होगया है अब ये जात्राएँ अलग से लिखी जाने लगी हैं। जिनमें गेय पक्ष को प्रधानता रहती है तथा उनका गीत-नृत्य पक्ष नाट्य से बहुधा असंबद्ध सा रहता है। वे संवादों का भार वहन नहीं करते। वे केवल मनोरंजन के लिये ही प्रयुक्त होते हैं।

भारतवर्ष में गीत नृत्यों की अनुपम बहार जितनी राजस्थान के ख्यालों में परिलक्षित होती है, उतनी किसी भी शैली में नहीं। राजस्थान के ख्याल नाट्य-तत्वों से जितने दुर्बल होते हैं, उतने ही गेय तत्वों से परिपुष्ट हैं। यही कारण है कि राजस्थानी ख्यालों में ख्यालियों का सर्वोपरि गुण गायन, वादन तथा नर्तन है। मध्यप्रदेश के माच भी लगभग-लगभग इसी श्रेणी में आते हैं, परन्तु उनके नाट्य-तत्व इतने

खटकनेवाले नहीं है. जितना राजस्थानी ख्यालों के। मीरां मंगल, ढोला मरवण, मूमल महेन्द्र, तथा हीर रांझा के ख्याल तो जैसे गाने के लिये ही रचे गये हैं। लच्छीरामकृत चंद्र मिलयागिरी तथा रिढमल नामक ख्यालों में गेय धुनों की अद्वितीय छटा है। इन धुनों में चिड़ावा के नौटंकी प्रभावित नानू दूलिया के ख्यालों की तरह छंद-प्रधान रंगतों, चोबौलों, दुबौलों तथा लंकड़ी तथा इकहरी दुहरो लयों की ओर विशेष आग्रह नहीं है। मेवाड़ प्रदेश की रासधारियों में भी, जिनमें भक्त हरिश्चन्द्र, ध्रुवचरित्र, रुकमणीमंगल आदि ख्याल प्रमुख हैं, इन छदों की कहीं प्रधानता नहीं है। अभिनेता स्वतन्त्र रूप से पूर्व निश्चित तथा परम्परागत धुनों में गाता है और साज उनकी संगत करते हैं। ये धुनें परम्परागत धुनें हैं, जिनकी मर्यादा में इस शैली विशेष के सभी नाट्य खेले जाते हैं। प्रत्येक शैली की धुनें प्रायः निश्चित सी होती हैं। केवल विषय और कथानक बदलते हैं। धुनें प्रायः वे हो रहा करतो हैं। ये धुनें यद्यपि संवाद-वहन की दृष्टि से विशेष उपयुक्त नहीं होतीं, फिर भी ये मर्मस्पर्शी होती हैं और गायकों को अपनी कल्पना के विस्तार में पूरी छूट देती हैं। इन धुनों का ताल पक्ष मध्यप्रदेश के माचों, चिड़ावा के ख्यालों तथा उत्तरप्रदेश की नौटंकियों से कहीं सरल और सुगम होता है। इन ख्यालों का नृत्य पक्ष भी उक्त लोकनाट्यों से अपेक्षाकृत सरल और दुर्बल होता है। राजस्थान के तुर्रा कलगी के खेलों में तो नृत्य पक्ष प्रायः है ही नहीं, उनका गेय पक्ष भी बहुत ही दुर्बल है। सारा खेल प्रायः एक या दो धुनों में बन्धा रहता है, जिन्हें बार-बार सुनकर दर्शक ऊब से जाते हैं। यदि तुर्रा कलंगी का साहित्यिक तथा दर्शनीय पक्ष प्रबल न हो और नाट्य के सामुदायिक गुण चर्म सीमा तक न पहुँचे हों तो यह प्रकार नाट्य की दृष्टि से बहुत कमजोर सिद्ध होगा।

लोकनाट्यों में प्रचलित जीवन व्यवहार तथा जीवनादर्शों का प्रतीकीकरण

लोकनाट्य प्रचलित जीवन, व्यवहार तथा जीवनादर्शों के प्रतीक

होते हैं । सामाजिक चिन्तन, आचार-विचार, रीति नीति, निष्ठा तथा पारंपरिक विश्वास लोकनाट्यों में अत्यंत छद्म रूप में प्रकट होते हैं । नाट्य के कथानक, उनकी घटनाएँ, प्रसंग, पात्र आदि कितने ही प्राचीन क्यों न हों, जीवन व्यवहार की दृष्टि से वे सौलह आना आधुनिक हैं । क्योंकि वे किसी शास्त्र, विशिष्ट परम्परा तथा परिपाटी का अनुशीलन नहीं करते । अत: परम्परा प्रतिपादन की उनसे आशा भी नहीं रखी जा सकती । उनके संवाद-गीत पुरातन होते हुए भी नवीन इसलिये हैं कि उनका प्रवाह गंगा की तरह पावन तथा निर्मल है । गंगा सहस्त्रों वर्षों से इस पावन धरती पर बह रही है, परन्तु प्रतिपल उसमें नवीन जल का संचार होरहा है । इसी तरह जो गीत–संवाद परम्परा से प्रचलित हैं, उनमें प्रतिपल परिवर्तन होरहा है और चिर नवीन सामाजिक प्रतिभा का चमत्कार उन्हें चमत्कृत कर रहा है । पारम्परिक आदर्श, कथानक, विचारधारा तथा जीवन व्यवहार का निभावउसमें बिल्कुल आवश्यक नहीं है । मौलिक आदर्श और मूलभूत व्यवहार की विशेषताओं का निभाव तो होता है, परन्तु उनको आधुनिक जीवन में ढालने की प्रवृति इन नाट्यों में बराबर बनी रहती है ।

उदाहरणार्थ परम पावन भगवती सीता अपने पातिव्रत धर्म को निभाने के लिये भगवान राम के साथ वन गमन करती है । उनके साथ कष्ट सहती है । अपने पति के साथ भारतीय आदर्शानुकूल बराबरी का दर्जा पाती है । राम उसकी आज्ञा से स्वर्ण-मृग का चर्म लेने के लिए शिकार पर जाते हैं और उसके हरण पर विरहव्यथा से व्यथित हुए देखे जाते हैं । परन्तु लोकनाट्यों में वही सीता प्रचलित लोकाचार की दृष्टि से राम के चरण दबाती है । कुटिया में राम लक्ष्मण के लिये भोजन बनाती है । जंगल से कंडे और लकड़ी बीन कर लाती है, कपड़े धोती है, बर्तन मांजती है और प्रतिपल पति से दबकर रहती है । राजस्थानी रासधारी में सींता राम का घूंघट भी निकालती है । रावण द्वारा हरी जाकर जब वह अशोकवाटिका में निवास करती है

तो पति की विरह वेदना से कहीं अधिक उसको यह डर है कि उसका पता लग जाने पर राम उसको अवश्य ही पीटेंगे। राजस्थान के इस विशिष्ट लोकनाट्य में रावण के प्रति राम का रूख भी वैसा ही दर्शाया गया है जैसा किसी आज के ग्रामीण व्यक्ति का अपनी स्त्री के चुराये जाने पर होता है। अपनी पत्नी के हरण पर राम यही भावना व्यक्त करते हैं कि जिस तरह रावण ने मेरी स्त्री का हरण किया है, उसी तरह मैं भी रावण की स्त्री का हरण करूंगा।

धार्मिक भावनाओं और संस्कारों पर आधारित रामलीलाओं को छोड़कर लगभग सभी रामाधारित लोकनाट्यों में कथा-प्रसंग का काफी निभाव होते हुए भी चरित्र चित्रण में लोकाचार की दृष्टि से काफी परिवर्तन दिखाया गया है। रामयुग के सभी पात्र इन लोकनाट्यों में पोशाकें भी वही पहिनते हैं, जो आजकल गांवों में पहनी जाती हैं। यदि वह राजस्थानी लोकनाट्य है और राजस्थानी मंडलियों द्वारा अभिनीत होता है, तो सीता उसमें साड़ी, लूगड़ी पहिनेगी और घूंघट निकालेगी। राम, लक्ष्मण, रावण आदि पात्र राजस्थानी पगड़ियों, राजसी झग्गों, कमरबन्दों तथा ढाल तलवारों, भालों और बरछियों का प्रयोग करेंगे। रावण जब सीता को हरने के लिये आयेगा तो उसकी वेशभूषा आधुनिक फकीर की सी होगी और प्रकट होजाने पर आधुनिक प्रेमी की तरह व्यवहार करेगा। दशरथ महाराज की मृत्यु पर भरत सैंकड़ों मन मालपुओं का मौसर करेंगे।

भीलों के गवरी नाट्य में भी माता गौरी शिवजी के घर में साधारण गृहिणी की तरह गोबर थेप कर कंडे सुखाती है। शिव के अवतार बूढिया जब अपनी बहिन खेतूड़ी के घर जाते हैं तो वह मक्की की रोटी तथा लहसुन प्याज की चटनी खाते हैं। वृन्दावन की धार्मिक लीलाओं को छोड़कर सभी कृष्णाधारित लोकनाट्यों में कृष्ण गोपियों से उसी तरह छेड़छाड़ करते हैं, जैसे आज के मनचले नोजवान रास्ते चलती हुई छोकरियों को छेड़ते हैं। इस तरह लोकनाट्यों के चरित्र

चाहे कितने ही पौराणिक और ऐतिहासिक क्यों न हों, उनके सभी पात्र क्षेत्रीय विशेषताएँ लिये हुए होते हैं। जैसे राजस्थानी लोकनाट्यों में राम राजस्थानी वेश-विन्यास में होगा और राजस्थानी भाषा बोलेगा। पंजाबी राम पंजाबी लिवाज में पंजाबी वीरों का सा व्यवहार करेगा। यही नहीं, वह अपनी स्थानीय समस्याओं को अपने व्यवहार तथा अभिनय में प्रयुक्त करेगा। यदि किसी क्षेत्र में किन्हीं विशेष त्यौहारों, पर्वों, समारोहों तथा धार्मिक विश्वासों का प्रचलन है, तो वहाँ के नाटक में वे सभी त्यौहार, पर्व तथा विश्वास महत्व प्राप्त कर लेते हैं। यदि किसी क्षेत्र में किसी विशिष्ट विचारधारा का प्रचलन है तो वही विचारधारा उस क्षेत्र के लोकनाट्यों की विचारधारा बन जाती है। यदि किसी क्षेत्र में भेरूं का महत्व है तो वहाँ की रामलीलाओं में स्वयं राम भी भेरूं की पूजा करने लगते हैं। यदि किसी क्षेत्र में हरिजनों और शूद्रों के प्रति छुआछूत का प्रचलन है तो वहाँ के नाटकों के सभी चरित्र उसी प्रकार व्यवहार पाते हैं। वहाँ के रामाश्रित नाटकों में भगवान राम शबरी भीलन के झूठे बेर नहीं खाते। निशाद की नौकामें बैठकर गंगापार नहीं करते। पांच पतियों वाली द्रोपदी, जो महाभारतकालीन सामाजिक आदर्शों के अनुसार पूजनीय नारी समझी जाती है, लोकनाट्यों में कुत्सित नारी की तरह चित्रित होती है।

लोकनाट्यों में पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों के महान आध्यात्मिक आदर्श अधिक चमत्कृत नहीं होते। उनके जीवन के व्यवहार, जो प्रचलित जनसमुदाय की परम्पराओं और भावनाओं को अधिक स्पर्श करते हैं, वे ही प्रधानता पाते हैं। राजस्थानी ख्यालों के राजा केसरीसिंह और अमरसिंह के वीरता के चमत्कार समाज को जितने स्पर्श नहीं करते, उतने उनके प्रेमाचार स्पर्श करते हैं। पारम्परिक धार्मिक रामलीलाओं को छोड़कर सभी रामाधारित लोकनाट्यों में राम की पितृभक्ति, लक्ष्मण का भ्रातृप्रेम, सीता का पातिवृत्य तथा उनके उच्च मानवी आदर्शों का जितना चित्रण हुआ है, उससे कहीं अधिक

चित्रण उनकी दैनिक जीवन-चर्याओं का हुआ है। जैसे राम क्या खाते हैं, क्या पहिनते हैं, सीता अयोध्या में सास ससुर के प्रति कैसा व्यवहार करती है, अशोक वाटिका में किस तरह अपना खाना बनाती है। सीता स्वयंबर में राम अन्य राजाओं के साथ कैसे प्रतिस्पर्धा में उलझते हैं, सीता के विरह में किस तरह छटपटाते हैं तथा वनगमन की आज्ञा पाकर राम किस तरह दुःखी होते हैं। लोकनाट्यों का राम जब लंका-विजय के उपरान्त घर लोटता है तो सर्व प्रथम वह अपना राज्य संभालता है, कि कहीं भरत ने कुछ चतुराई तो नहीं की।

इस तरह ऐतिहासिक पात्रों की बड़ी-बड़ी वीरगाथाएं तथा त्याग बलिदान के कारनामें लोकनाट्यों में विशेष महत्व नहीं रखते। उन ऐतिहासिक पात्रों के वे जीवन-व्यवहार, जो गार्हस्थ जीवन से संबंधित हो या जिनके आचरण प्रचलित दैनिक-जीवन-व्यवहार के अनुकूल हो, वे ही लोकनाट्यों के आकर्षण बनते हैं। ऐसे ऐतिहासिक पुरुष अपने उच्च जीवनादर्शों से महान नहीं बनते। यदि उनमें से किसी ने बिच्छू या साँप के काटे हुए को जीवित कर दिया तो वही लोकनाट्यों में देवता की पदवी पाता है। देश को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करानेवाला महापुरुष लोकनाट्यों में जितनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं करता उतनी गांव की गायों को कसाइयों से बचाने वाला प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। देश, समाज तथा समस्त जाति को सांसारिक और सामाजिक बंधनों से मुक्त करनेवाला संत लोकनाट्यों में जितना महत्व नहीं पाता, उतना गांव के बच्चों को जादू टोनों से स्वस्थ करने वाला साधु पा लेता है। देश की महान् आत्माओं के चरित्र यदि इन लोकनाट्यों में विषय बनते भी हैं तो इनके उच्च चारित्रिक गुण उनके आकर्षण नहीं बनते, उनके व्यवहारिक जीवन के चमत्कारपक्ष ही लोकनाट्यों में स्थान पाते हैं। मीरा जीवन संबंधी मीरा मंगल नामक राजस्थानी ख्याल में मीरा की भक्ति उनके आध्यात्म तथा उनके त्याग को कहीं महत्व

नहीं दिया गया है। उसमें केवल मीरा के श्रृंगार, विवाह तथा उनके लोकाचारों पर ही विशेष बल दिया गया है। मीरा-मंगल की मीरा अंत में मेवाड़ के महाराणा के साथ अपना विवाह स्वीकार भी कर लेती है। उनके साथ गार्हस्थ जीवन भी व्यतीत करती है। उनकी कृष्णभक्ति अपने पति की मृत्यु के उपरान्त वैधव्य को पीड़ाओं को कम करने के निमित्त ही उपजी है।

लोकनाट्यों का आधुनिक नाट्यों पर प्रभाव

लोकनाट्यों की स्वस्थ, वैज्ञानिक तथा मानवस्पर्शी परम्पराओं ने आधुनिक नाट्यों को काफी मात्रा में प्रभावित किया है। वे मानवी भावनाओं तथा आकांक्षाओं का सही अर्थों में प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उन्हें मानवी अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। रंगमंचोय विधियाँ, तंत्र तथा शास्त्र आदि के नियंत्रण से उनकी आत्मा कुंठित नहीं होती। आधुनिक नाट्य-तंत्र ने नाटक को इतना जकड़ लिया है कि वह एक प्रकार से यंत्र सा बन गया है। उनमें से प्राण जैसे निकल गये हैं। आधुनिक दृश्य विधान तथा यंत्र की चमत्कारिक उपलब्धियों ने दर्शकों को आश्चर्यचकित अवश्य कर दिया है, परन्तु उनकी आत्मा नाटक की आत्मा से आत्मसात नहीं करती। आधुनिक विद्युत के चमत्कारों ने वे स्थितियाँ रंगमंच पर उपस्थित कर दी हैं, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इन तकनीकी उपलब्धियों से आज मोटर, रेल तथा हवाई जहाज भी रंगमंच पर आजाते हैं। समुद्र की तूफानी लहरें रंगमंच पर उतर आती हैं। मनुष्य रंगमंच पर ही आकाश और पाताल से बातें करने लगता है। प्रकाश के चमत्कार से आदमी क्षणभर में रंगमंच पर प्रकट होता है और क्षणभर ही में अंतर्ध्यान होजाता है। ध्वनि-विस्तारक यत्र के माध्यम से पात्र दर्शकों के कान ही में बोल देता है। वेश विन्यास के आधुनिक चमत्कारों से युवा पुरुष

वृद्ध बन सकता है और वृद्ध युवा में परिवर्तित हो सकता है। रंगमंच पर ही वे स्थितियाँ पैदा की जा सकती हैं कि दर्शकों को स्वयं किसी भी स्थिति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। रंगमंच पर पात्र इस निपुणता और पूर्णता के साथ पेश किये जाते हैं कि उनके वास्तविक मानवीं स्वरूप की कल्पना करना ही मुश्किल है। कौन व्यक्ति किसका अभिनय कर रहा है, यह भी पता लगाना नितांत कठिन है। पलक झपने मात्र से दृश्य बदल जाते हैं। क्षणभर में मूसलाधार वर्षा होने लगती है और कुछ ही क्षणों में पृथ्वी भयंकर ताप से झुलसने लगती है। आधुनिक नाट्य की ये सब उपलब्धियाँ मनुष्य को आश्चर्य में डाल देती हैं। फिल्मों के प्रचार ने जहाँ इन रंगमंचीय नाटकों को क्षति पहुँचाई है, वहाँ उनके काम को हलका भी किया है। फिल्म और नाटक का एक सम्मिलित प्रयोग आज के रगमंच की विशेषता बन गई है। वास्तविक रंगमंचीय दृश्य के साथ ही फिल्म चल पड़ती है, जिसमें रंगमंच के समस्त पात्र अपनी पूर्व स्थिति से निकल किसी परिवर्तित स्थिति में दिखलाये जाते हैं। पलक मात्र से वे कहाँ के कहाँ पहुँच जाते हैं। जो दृश्य रंगमंच पर असंभव से प्रतीत होते हैं उनको फिल्म द्वारा इस तरह प्रदर्शित किया जाता है कि वे वास्तविक ही नजर आने लगते हैं।

इन सब विस्मयकारी तकनीकी चमत्कारों में दर्शक की आँखें उलझ जाती हैं और वह नाटक की मूल आत्मा तक नहीं पहुँच पाता। प्रदर्शनोंपरान्त दर्शक यही कहते हुए निकलता है—नदियों की भयंकर बाढ़ें रंगमंच पर किस खूबी से दिखलाई गई थीं। जमीन पर खड़ा हुआ आदमी बात ही बात में किस तरह आकाश में उड़ गया। भयंकर आग की लपटों ने रंगमंच का बाल भी बांका नहीं होने दिया। बिरलों ही के मुँह पर यह सुना जाता है कि अमुक पात्र ने कितना सुन्दर अभिनय किया तथा नाट्य-लेखक ने अपनी कलम से कितना सुन्दर चमत्कार दिखलाया तथा अमुक पात्र ने कितना सुन्दर गाया। सबको यह मालूम है कि गीत पात्र

द्वारा नहीं गाया गया था, किसी पार्श्व गायक ने अपना कंठ उसे प्रदान किया था। यही कारण है कि पात्र के कंठ से निकली हुई स्वर–लहरियां उसकी वेदना के साथ संवेदित नहीं हुईं।

ये सब तकनोकी उपलब्धियाँ लोकनाट्यों में कहाँ ? उनका रंगमंच सादा, आडम्बर हीन दृश्य-विधान, प्रकाश व्यवस्था व ध्वनि-विस्तारक यंत्र उनके पास कहाँ ? पात्रों को वेश-भूषा बदलने के लिये पृथक स्थान कहाँ ? यदि नदी पार करनी होती है तो लोकनाट्य के पात्र अपनी टाँगों से कपड़ा ऊपर उठाकर चलते हैं। पहाड़ों पर चढना होता है तो वे ऊँची-ऊँची छलाँगे भरतें हैं। यदि अभिनय करते समय तत्काल ही किसी दूसरे पात्र की आवश्यकता हुई तो पात्र स्वयं अपने शरीर पर कपड़ा लपेटकर उस व्यक्ति का अभिनय करने लगते हैं तथा कभी-कभी कुछ विशिष्ट प्रसंगों में दर्शकों को ही विवादी पात्र मानकर उनसे संवाद करने लगतें हैं। दर्शक स्वयं भी कभी-कभी आत्मविभोर होकर उनसे बातें करने लगता है। रंगमंच पर भावोद्रेक का वातावरण देखकर वह स्वयं भी उत्साहित हो जाता है। वह रंगमंच के पात्रों के साथ रोता है और उनके साथ हँसता है। नाट्य समाप्ति के बाद उसे यह भी भान नहीं रहता कि नाट्य खत्म होगया है या चल रहा है।

आधुनिक नाट्यों के उलझे हुए तंत्र से कला-प्रेमी जनता उब सी गई है। वह नाटक के मर्म तक पहुँचना चाहती है। वह पात्र से सही माने में मित्रता करना चाहती है। उसकी भावनाओं में अपनी भावनाओं का ताल–मेल बिठाना चाहती है। वह पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष देखना चाहती है। उसके लिये यह कल्पना बिल्कुल कठिन नहीं है कि पात्र महलों में बैठा है या झोंपड़ी में। दूर जंगल में विचर रहा है या शहर की सड़कों पर। वह इन कल्पनाओं को पात्रों के माध्यम से साकार करना चाहती है। रंगमंचीय तंत्र के माध्यम से नहीं। वह ध्वनि-विस्तारक यंत्र के माध्यम से संगीत का स्वाद नहीं लेना चाहती। वह अभिनेता के

कंठ से स्फुरित हुई असली आवाज का रसास्वादन करना चाहती है। दर्शकों की यह अभिलाषा आधुनिक बहुतंत्री नाटकों से कभी पूरी नहीं हो सकती। दर्शकों की यही पीपासा आधुनिक यांत्रिक नाटकों को आमूलचूल परिवर्तन की ओर प्रवृत कर रही हैं। रंगमंचीय नाटक को फिल्म की नकल नहीं बनाकर वास्तविक नाट्य--मंच बनाने की चेष्टा सर्वत्र दृष्टिगत हो रही है। यही कारण है कि आज का नाटक लोक-नाट्योन्मुखी हो रहा है।

आज सर्वत्र यह चेष्टा दीख पड़ती है कि लोकनाट्यों के उसूलों का आधुनिक नाटकों में अनुसरण किया जाय। रंगमंच या रंगस्थली के चारों तरफ या कम से कम तीन तरफ दर्शकों के बैठने की व्यवस्था प्रायः सभी लोकनाट्यों में होती है। दर्शक और प्रदर्शकों के बीच का फासला कम करने की चेष्टा जो आधुनिक ढंग के नाट्यों में हो रही है, वह लोकनाट्यों की प्रेरणा ही समझनी चाहिये। यूरोप में आधुनिक ढंग के थियेटरों में रंगमंच इस प्रकार बनने लगे हैं कि दर्शक प्रदर्शकों का फासला कम से कम हो गया है। अभिनेतागण दर्शकों की गोद में आकर काम करते हैं। दर्शक अभिनेताओं को भावना में मिल जाता है। उनकी श्वांसों में अपनी श्वासें मिलाता है। ध्वनि--विस्तारक यंत्र भी अब आधुनिक थियेटरों से गायब होगया है। दर्शक प्रदर्शक का फासला कम होजाने से अब दर्शकों को प्रदर्शकों की मौलिक आवाज का आनन्द मिलता है।

आधुनिक थियेटरों में अब तकनीको उपलब्धियों पर विशेष आग्रह नहीं है। बक्सनुमा रंगमंच बनाने की प्रथा, जो अबतक प्रचलित थी, अब प्राय लप्त सी हो रही है। पात्र पृष्ठभूमि से बाहर निकलकर दर्शकों के बीच फैले हुए रंगमंच पर फैल जाते हैं और अपने करतब दिखलाते हैं। किन्हीं--कन्हीं अत्यन्त आधुनिक थियेटरों में तो अभिनेता के रंगमंचीय प्रवेश का मार्ग दर्शकों के बीच ही बना हुआ होता है तथा

बहिर्गमन के लिये अब चमत्कारीक परिस्थितियों की आवश्यकता नहीं है। अब पात्र रंगमंच पर सहज ही आजाते हैं और सहज ही चले--जाते हैं। दृश्य विधान की दृष्टि से भी आधुनिक रंगमंच पर एक क्रान्ति सी आई हुई है। दृश्यावली वाले परदों का समय अब बीत चुका। अब एक रगीन परदे की पृष्ठभूमि पर ही बड़े--बड़े दृश्यों की कल्पना करली जाती है। जिस तरह लोकनाट्यों में पृष्ठभूमि की दीवार या परदे के सहारे सभी काम सम्पन्न हो जाते हैं, वही प्रवृति आधुनिक नाटकों में भी प्रविष्ठ हुई है। लोकनाट्यों में जिस तरह प्रतीक स्वरूप एक पेड़ की डाली को रंगमंच पर ले आने से समस्त जंगल की कल्पना साकार हो जाती है। महलों के लिये केवल एक गुम्बजनुमा दरवाजा खड़ा कर देने से संपूर्ण महल समझ लिया जाता है। उसी तरह आधुनिक नाटक में प्रतीकात्मक संकेतों के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी सांकेतिक वस्तु रख देने से पूरे दृश्य की कल्पना होजाती है।

आधुनिक नाट्यों में वेशभूषा की दृष्टि से भी पर्याप्त मात्रा में सरलीकरण की ओर आग्रह है। विशेष पात्र के श्रृंगार में उसकी पोशाक की कोई प्रतीकात्मक वस्तु पहिन लेने या लगा लेने से पूरे पात्र की कल्पना साकार हो जाती है। दर्शकों को चकाचौंध में डालनेवाली कोई भी वस्तु या प्रसाधन का उपयोग आधुनिक रंगमंच पर अनुचित समझा जारहा है। जिस तरह संगीतज्ञों तथा वाद्यकारों को लोकनाट्यों में खुले आम बिठलाया जाता है, उसी तरह आधुनिक नाट्यों में भी अब संगीतकारों को छुपाया नहीं जाता, खुले आम सबके सामने बिठाया जाता है। दृश्य--परिवर्तन के लिये भी लोकनाट्यों की तरह ही आधुनिक रंगमंच पर सबके सामने रंगमंचीय सामग्री लाई या उठाई जाती है। रोशनियों की चकाचौंध भी अब आधुनिक नाट्यों में विशेष महत्व नहीं रखती। आधुनिक नाट्यों में रंगमंचीय विधान, वेशविन्यास, नाट्य--

रचना, आदि में जो प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण किया जारहा है, वह सब लोकनाट्यों की ही देन है।

आधुनिक रंगमंच की रचना भी लोकनाट्यों के खुले रंगमंच के अनुसार ही होने लगी है। प्रेक्षालय भले ही चाहरदीवारी से आवृत हो, उसकी छत भी चाहे ढकी हुई हो, परन्तु उसका रंगमंच लोक शैली में ही बनाया जाता है। उसका अभिनय क्षेत्र अब प्रेक्षालयों में दर्शकों की गोदी तक फैल गया है। दृश्य परिधि भी अब डिबिया जैसी नहीं बनकर लोकनाट्यों के खुले झरोखों की तरह ही बनती है। लोकनाट्यों में विविध स्थलों तथा अट्टालिकाओं से उतर चढकर अभिनय करने की जो शैली है, उसका प्रभाव अब आधुनिक ढंग के रंगमंच पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। अनेकआधुनिक ढंग के प्रेक्षालयों में रंगमंच के पीछे दीवार पर उतरने चढ़ने की सीढ़ियों का जो समावेश हुआ है, वह इन्हीं लोकनाट्यों का प्रभाव समझना चाहिये। इन्हीं सीढ़ियों से पात्र उतरते चढ़ते तथा रंगमंच पर आते हैं।

यूरोपीय थियेटरों में इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं। लोकनाट्यों की तरह रंगस्थली के चारों ओर दर्शकों के बैठने की प्रणाली भारत में अनादिकाल से चली आरही है। आज भी अनेक लोकनाट्य गोलाकार रंगस्थली की शैली में ही प्रस्तुत होते हैं। यूरोप में कई आधुनिक थियेटर इस शैली में निर्मित हुए हैं। रंगस्थलो समतल भूमि पर गोल आकार में होती है, जिसके चारों ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था है। नाट्य प्रस्तुतीकरण में भी अभिनेता गोले में बैठे हुए दर्शकों का पूरा ध्यान रखते हैं। अभिनय-स्थल से चारों दिशाओं में निकली हुई गलियाँ होतो हैं, जिनसे प्रदर्शक रंगस्थली में प्रवेश करते हैं और अभिनयोपरान्त पुनः बहिर्गमन करते हैं। रंगस्थली के ऊपर छत पर लगी हुई रोशनियों का जाल लगा रहता है, जो अभिनेताओं के अंग-प्रत्यंग को आलोकित्त करता है। यह प्रकाश व्यवस्था इस चतुराई से की

गई है कि रंगस्थली के अलावा प्रेक्षालय के सभी क्षेत्र अन्धकारमय होते हैं। कभी-कभी अभिनेता अपने अभिनय की समाप्ति पर दर्शकों के बीच ही बैठ जाते हैं। दर्शकगण प्रदर्शन में इतने लीन रहते हैं कि उन्हें यह पता नहीं रहता कि अभिनेता कहाँ गये, कहाँ से आये और कहाँ बैठे हैं ?

जिस तरह लोकनाट्यों में अनेक स्थितियाँ तथा कला प्रसंग की अनेक बातें दर्शकों की कल्पना पर छोड़दी जाती हैं, उसी तरह नाट्य-तंत्र में भी नाट्य प्रसंग की कई बातें दर्शकों की कल्पना पर अवलम्बित रहती हैं। आधुनिक नाटकों में परदे तथा दृश्यावलियों की योजना भी दिन बं दिन कम होती जाती है और केवल प्रतीकों के सहारे नाटक चलता है। बिना किसी बाह्य उपकरण के नाटक रंगस्थली में शुरू होजाता है और दृश्य—परिवर्तन के समय रंगमंच को अंधकारग्रस्त कर देना ही पर्याप्त समझा जाता है। इन सब आधुनिक परिवर्तनों से यह परिलक्षित होता है कि आधुनिक रंगमंच को लोक परम्पराओं ने कितना प्रभावित किया है। रंगमंचीय उपकरणों में जितनी भी सरलीकरण की प्रवृति आई है, उतना ही नाटक ताकतवर बना है तथा अभिनय में जान आई है नाटकोय बरणघट तथा नाट्याभिनय की तकनीकी बारीकियों में फंसकर भारतीय शास्त्रीय नाट्य जिस तरह नष्ट होगया, वही स्थिति आज आधुनिक तंत्र में फंसे हुए नाटकों की होरही है। दोनों के ह्रास के पीछे लोकनाट्यों की ही बहुमुखी प्रतिभा का हाथ है। लोकनाट्यों की रचना में जिस तरह सभी नाट्य—तत्वों के विकास की आवश्यकता नहीं समझी जाती, उसी तरह आधुनिक नाट्य की बरणघट में भी सभी नाट्य-तत्वों के प्रतिपादन की आवश्यकता आज नहीं समझी जारही है। भारतीय आधुनिक नाट्य--तंत्र के विकास में लोकनाट्य जितना सहायक हुआ है, उतना शास्त्रीय नाट्य नहीं। आधुनिक नाट्यों के कथानक अब शास्त्रीय नाट्यों की तरह उच्चकुलीय तथा उच्चवर्णीय महापुरुषों के

जीवन पर ही अवलम्बित नहीं रहते। अब निम्नवर्णीय व्यक्ति भी आधुनिक नाटक का विषय बन सकता है। आधुनिक नाटक के लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि नाट्य का नायक कोई दुष्ट या खल नहीं हो। यदि उसके जीवन वृत्त में भी नाट्य--तत्व विद्यमान हैं और कथा प्रवाह चर्म तक पहुँच सकता है, तो वह भी नाट्य का विषय बन सकता है। लोकनाट्यों की यह परम्परा आधुनिक नाट्य--रचना में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतवर्ष में पिछले १०० वर्षों में अनेक नाटक लिखे और खेले गये हैं। परन्तु एक भी नाटक ऐसा नहीं है, जिसने शास्त्रीय नाटकों का अनुशीलन किया हो।

आधुनिक ढंग के भारतीय नृत्य–नाट्यों तथा बेले नाट्यों को भी लोकनाट्यों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। भारतीय लोकनाट्य यूरोपीय आपेरा शैली के बहुत निकट हैं। वे उन्हीं की तरह संगीत प्रधान होते हैं। उनमें भी जीवनवृत्त के रूप में समस्त जीवन का चित्रण अपेक्षित नहीं है। भारत के आधुनिक नृत्य--नाट्यों ने तो अपनी समस्त परम्परा भारतीय लोकनाट्यों से प्राप्त की है। आधुनिक भारतीय नृत्य मंडलियाँ अपने नृत्य--नाट्य को बेले नाम से नामांकित करती है, जब कि बेले की कोई परम्परा हमारे देश में विद्यमान नहीं है। इस प्रणाली का उद्भव यूरोपीय देशों में हुआ है। बेले की समस्त भंगिमाएँ मूकाभिनय के रूप में होती हैं, जब कि भारतीय नृत्य--नाट्यों में मूकाभिनय जैसी कोई परम्परा नहीं है। हमारे देश में वर्तमान नृत्य--विशेषज्ञों द्वारा जो नृत्य--नाट्य प्रस्तुत हो रहे हैं, उनकी समस्त पृष्ठभूमि लोकनाट्यों ही से प्राप्त हुई है। इन नाट्यों के प्रमुख प्रवर्तक हैं:—श्री उदयशंकर, श्री सचिनशंकर, स्वर्गीय शान्तिवर्धन, नरेन्द्र शर्मा आदि। इन स्वनामधन्य कलाकारों द्वारा रचित लगभग सभी कृतियाँ लोकाधार युक्त हैं। इन नृत्यों व नाट्यों के प्रस्तुतीकरण में लोकशैली का पूर्ण रूप से प्रतिपादन हुआ है। खुले रंगमंच की शैली में न्यूनतम दृश्य विधान से

ही इनकी कृतियां अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत होती हैं। वाद्यकार भी खुले आम सबको दीखते हुए बैठते हैं तथा सादे रंग के परदों की पृष्ठभूमि पर स्थिति-विशेष के सूक्ष्म प्रतीकों द्वारा बड़े--बड़े दृश्य विधानों की कल्पना साकार की जाती है। वेशभूषा तथा साज-सज्जा में भी प्रतीकात्मक स्वरूपों के सहारे कठिन से कठिन कार्य सिद्ध कर लिये जाते हैं। श्रीयुत नरेन्द्र शर्मा कृत रामलीला लोकशैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस रामलीला के समस्त दृश्य विधान, वाचन, गायन, नृत्य, वेश-विन्यास तथा रंगमंचीय उपकरण पूर्णरूप से लोकशैली का अनुशीलन करते हैं। लोकनाट्यों की तरह ही एक ही स्थल पर अनेक स्थितियों का प्रस्तुतीकरण इस रामलीला की विशेषता है। उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली की आनुष्ठानिक रामलीलाओं ने इस रचना को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इन रामलीलाओं में पात्र जिस तरह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रयाण करते हैं, उसी तरह इस रामलीला में भी पात्र प्रयाण करते हैं। दृश्य परिवर्तन भी अधिकांश लोकशैली में ही होते हैं। समस्त नाटिका में ऊपर नीचे या अगल बगल चढ़ने उतरने तथा खिचनेवाले परदों का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। आधुनिक नाट्य--तंत्र के चोखटीय रंगमंच की शैली भी इसमें नहीं अपनाई गई है। दर्शकगण रंगमंच की तीनों दिशाओं में बैठते हैं तथा समस्त रामलीला के लुप्तप्राय: अंशों की पूर्ति रंगमंच पर उपस्थित प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण से बड़ी आसानी से कर लेते हैं। रामलीला के समस्त पात्रों की वेशभूषा भी लोकशैली की वेशभूषा से ही प्रेरित हुई है। जनकपुरी, अयोध्या तथा लंका के दृश्य भी बिना विशेष साज सज्जा के सामान्य प्रतीकों के सहारे बड़े प्रभावशाली ढंग से रंगमंच पर उपस्थित किये गये हैं। पंचवटी और चित्रकूट के दृश्यों में केवल एक प्रतीकात्मक वृक्ष और पर्णकूटी ही समस्त वन खण्ड का प्रभाव पैदा कर देते हैं। श्रीयुत सच्चिनशंकर की रामलीला में यद्यपि लोकशैली का पूर्णरूपेण प्रति-

पादन नहीं हुआ है, फिर भी नाट्य–विधान तथा दृश्य विधान की दृष्टि से वह भी पूर्णरूपेण लोकाधारित ही है। इस नृत्य–नाटिका की भावाभिव्यंजनाएँ तथा अंग भंगिमाएँ लोकशैली पर आधारित नहीं है, फिर भी इनके समस्त लोकनृत्य लोकाधारयुक्त ही हैं। लिटिल बेले ग्रुप की कठपुतली रामलीला भारतीय कठपुतलियों की अंग भंगिमाओं तथा प्रस्तुतीकरण का बहुत ही सुन्दर प्रतिरूप है। श्रीयुत पार्वतीशंकर कृत डिसकवरी ऑफ इण्डिया यद्यपि अनेक शैलियों का एक मिश्रण है, फिर भी प्रस्तुतीकरण और दृश्य विधान की दृष्टि से उसे लोकनाट्य प्रणाली ने काफी प्रभावित किया है। बम्बई के श्रीयुत जोगेन्द्र देसाई कृत राम शबरी नृत्य–नाटिका भी यद्यपि दृश्य विधान की दृष्टि से आधुनिक नाट्य तंत्र से काफी प्रभावित हुई है, परन्तु उसके समस्त लोकनृत्य और उसकी वेशभूषाएँ लोकाधारयुक्त ही हैं। गुजरात के सुप्रसिद्ध भवाई अभिनेता श्रीयत जयशंकर सुन्दरी कृत मैना गुजरी नामक नृत्य–नाटिका तो लोकनृत्य–नाट्य का एक बहुत ही परिमार्जित और आधुनिक स्वरूप है। इसकी समस्त अभिव्यंजनाएँ और संवाद गीतों की शैली विशुद्ध लोकनाट्यों की शैली है। प्रस्तुतीकरण में भी लोकरंगमंच की भावी कल्पना के इस नाटिका में बहुत ही सुन्दर दर्शन होते हैं।

श्रीयुत उदयशंकर कृत छोटी–छोटी नृत्य-नाटिकाएँ, जिनका आधार पौराणिक कथाएँ हैं, यद्यपि शास्त्रीय अंग भंगिमाओं और प्रतीकों का सहारा लेती है, फिर भी उनका समस्त प्रस्तुतीकरण और दृश्य विधानों के प्रतीक लोकशैली से ही प्रभावित हुए हैं। श्रीयुत उदयशंकर की सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि ने शास्त्रीय और लोकनृत्यों में अत्यंत सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। शान्तिनिकेतन द्वारा प्रस्तुत नृत्य–नाटिकाओं में, जिनमें चंडालिका तथा चित्रांगदा प्रमुख हैं, लोकनाट्य–शैली का पूर्णरूप से उपयोग हुआ है। लाहोरवा जैसी मणिपुरी नृत्य–नाटिकाओं का उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा है। रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण तथा दृश्य-

विधान तो उनके पूर्णरूपेण लोकाधारयुक्त हैं। इन नाटिकाओं के समस्त गीत भी लोकधुनों पर ही आधारित हैं।

भारतीय लोक-कला मंडल, उदयपुर की नृत्य-नाटिकाएँ, जिनसे लेखक का सीधा सम्बन्ध है, पूर्ण लोकाधार को अपने में समेटी हुई हैं। मंडल इस समय देश में लोकनृत्य और लोकनाट्यों के खोज, शोध और संशोधन की प्रथम संगठित संस्था है। इसकी सभी रचनाएँ गहन अध्ययन और विषद सर्वेक्षण पर आधारित हैं। संस्था के क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता लोकनाट्यों के विविध स्वरूपों का स्थलीय अध्ययन करते हैं और उनकी विविध विधाओं के तुलनात्मक विश्लेषण से अपने प्रत्येक विभाग को सुसम्पन्न करते हैं। लोकनाट्यों के प्रत्येक पक्ष का सर्वेक्षण सम्पूर्ण होने के उपरान्त ही विशिष्ट परम्परागत लोकनाट्य का आधुनिक संस्करण संस्था में तैयार किया जाता है। इस तरह प्रचलित लोकनाट्यों की सम्पूर्ण आत्मा को यथावत रखते हुए उसके जर्जरित स्वरूप को सप्राणित किया जाता है। लोकशैली-प्रधान प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से ये संशोधित लोकनाट्य जितने प्रभावशाली हैं, उतने देश में और कोई नहीं। ये सभी लोकनाट्य खुले रंगमच की प्रणाली से ही प्रस्तुत किये जाते हैं। रंगमंच के तीनों और दर्शकों के बैठने की व्यवस्था होती है। दृश्य विधान पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक एवं लोकाधारयुक्त होते हैं। नाट्य की सभी वाक-सवाक अभिव्यंजनाएँ सौलह आना लोकशैली से ही प्रभावित हैं। पात्र लोकशैली ही में प्रवेश करते हैं। संवाद आदि की व्यंजनाएँ लोकशैली में होती हैं तथा नाट्य की सम्पूर्ण बणघट लोक प्रणालो ही का आधार ग्रहण करती है। जिस विशिष्ट लोक-नाट्य शैली पर नृत्य-नाट्य आधारित रहता है, उसकी धुनें उसमें गाई जातीं हैं। संवाद वहन भी उसो शैली में होता है। मंडल द्वारा रचित लोक-नाटिकाओं में यदि कोई बहुत बड़ा परिवर्तन किया गया है तो यही कि प्रचलित लोकनाट्यों का कथा-प्रसंग, जो कि बहुधा बहुत कमजोर

और अपूर्ण होता है, इन नाट्यों में सर्वांगीण बनकर अवतरित होता है। रात-रातभर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रदर्शित होनेवाले मौलिक लोकनाट्य, जो अनेक क्षेपकों के प्रवेश से अत्यन्त जर्जर और तथ्यहीन होने लगे थे, लोक कलामंडल के प्रयास से पुनः नवजोवन लेकर अवतरित हुए हैं। इन लोकनाट्यों में मूमल महेन्द्र, मीरा मंगल, ढोला मरवण नामक नृत्य-नाटिकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाट्यों के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे अधिकांश परम्परागत लोक अभिनेताओं द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन सब उदाहरणों से यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि रंगमंचीय प्रस्तुतोकरण तथा रचना-विधान को दृष्टि से आज के अधिकांश भारतीय नृत्य-नाट्य लोकनाट्यों की शैलो का ही अनुसरण करने लगे हैं। वेशभूषाएँ, अभिव्यंजनाएँ, संगीत तथा रंगमंचोय विधान सभी लोकनाट्यों से प्रेरित हैं। इन नृत्य---नाट्यों में पात्रों का चुनाव भी लोक कलाकारों में से ही हो रहा है। लोक धुनों के साथ झाँझ, करताल, अपंग, ढोलक, ढोल, नक्काड़े, अलगोजे, पूंगी, मांदल जैसे लोक-वाद्यों का भी इन लोकनृत्य-नाट्यों में उपयोग होने लगा है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक नृत्य-नाट्यों की साज-सज्जा तथा रंगमंचीय रचनाओं में लोकनाट्यों का प्रभाव सर्वोपरि है। आधुनिक ढंग के थियेटर में भी यदि लोकाधारित नृत्य-नाट्य प्रस्तुत होते हैं तो उनकी रचना, प्रस्तुतीकरण आदि में लोकनाट्यों की ही रंगत का आनन्द उपलब्ध होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में रात-रातभर प्रदर्शित होने वाले परम्परागत लोकनाट्य इस यांत्रिक युग में धीरे-धीरे निष्प्राण भी होने लगे थे। अतः लोकनाट्यों की शैलीगत विशेषताओं का आधुनिक नृत्य-नाट्यों में प्रवेश अपने देश के लिये बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हुआ है। निश्चय ही लोक नृत्य-नाट्यों के पुनरुत्थान और युगानुकूल संशोधन के लिये हमारे देश में बहुत ही सुन्दर परिस्थितियों का निर्माण हो रहा है।

[२]

राजस्थान की ख्याल संपदा

महेन्द्र भानावत

राजस्थान में ख्यालों की बड़ी समृद्ध परम्परा रही है। ख्यालों की जितनी रंगशैलियाँ यहाँ मिलती हैं उतनी शायद ही कहीं देखने को मिले। इस लेख में ख्यालों की इसी संपदा पर यथेष्ट जानकारी दीगई है। —सम्पादक

नामकरण

राजस्थानी लोकनाट्यों का एक प्रकार ख्यालों के रूप में जाना जाता है। इनकी गणना मंचीय नाट्यों में की जाती है। लोकनाट्यों का यह अति आधुनिक रूप है। इसका इतिहास २००–२५० वर्षों से अधिक पुराना नहीं है।[1]

१– (क) सत्रहवीं शताब्दी में आगरा के निकट ख्यालों की एक लोकधर्मी परम्परा शुरू हुई जिसका दायरा केवल काव्य–रचना तथा किसी ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति से सम्बन्धित काव्य–रचना की प्रतियोगिता तक ही सीमित था। यही परम्परा प्रथमबार १८ वीं शताब्दी में राजस्थान के रंगमंचीय ख्यालों के रूप में परिवर्तित हुई जो आज अनेक रूपों में राजस्थान के जनजीवन को आल्हादित कर रही है। यह 'ख्याल' सर्वप्रथम कल्पना और विचारों से उत्पन्न कवित्व रचना का ही दूसरा नाम था परन्तु जब से वह रंगमंच पर खेल तमाशे का रूप धारण करने लगा, यह खेल या ख्याल कहलाया।

—राजस्थान के ख्याल; देवीलाल सामर, नटरंग, वर्ष १, अंक ३, पृ० ७३।

(ख) जनसाधारण में जो मध्यकाल में रास, चर्चरि, फागु आदि रमे व खेले जाते थे, वही पीछे से रमत, रामत, खेल, ख्याल के रूप में प्रकटित हुए।

—ख्यालों की पूर्व परम्परा; अगरचन्द नाहटा, लोककला, भाग १, अंक २, पृ. ६४।

यहाँ के ख्याल खेल, ख्याल, तमासा, सांग, स्वांग, संगीत नौटंकी, माच, रमत, रम्मत, रामत, रासधारी आदि के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं।[२]

---

[२] (क) ख्याल, खेल, तमासा आदि ख्यालों के नाम हैं। ख्यालों को खेल-तमाशे अथवा ख्याल-तमाशे भी कहते हैं। ख्याल-पुस्तकों का नामकरण भी इन्हीं के आधार पर मिलता है यथा—

(i) ख्याल बीरमसिंह नौटंकी का (चुन्नीलाल)
विक्रमराजा और चन्द्रकला का ख्याल (उजीरा तेली)

(ii) खेल राजा केशरसिंह और रानी फूँलादे (पं० शेषदास)
मूमल म्हदरे का खेल (तेज कवि)

(iii) ये विक्रम को नयो तमासो पीरू सोनो कथ कर गाया।
—विक्रम और राजा चन्द्रकला का ख्याल; उजीरातेली, पृ० १।

(ख) सांग, स्वांग, संगीत, सांगीत आदि नौटंकी के विविध नाम हैं। कहीं-कहीं नौटंकी के ख्याल को 'नौटंकी का स्वांग' भी कहते हैं। यथा—

(i) संगीत नौटंकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत; पं० नत्थाराम शर्मा, हाथरस, सन् १९६०।

(ii) त्वं पद पंकज राखि उर, करूं स्वांग प्रारम्भ, वही, पृ० १।

(iii) दास गणेश चिरंजी तौ नौटंकी स्वांग बनावें, वही, पृ० १।
नौटंकी का एक नाम भगत भी मिलता है।

(ग) मंच प्रधान ख्यालों को 'माच के ख्याल' कहते हैं। इन ख्यालों के मंच अपनी कलात्मक आकर्षक सज्जा, विशेष मंचीय बनावट तथा अट्टालीनुमा झरोखों के लिए प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में, माच के ख्यालों में, तुर्राकलंगी के ख्याल ही अधिक प्रचलित रहे हैं।

(घ) जैसलमेर तथा बीकानेर की ओर ख्यालों को रमत, रम्मत अथवा रामत कहते हैं।

(ङ) मेवाड़ की ओर ख्यालों को रासधारी भी कहते हैं।

(च) ख्यालों का एक नाम टप्पा भी पढ़ने को मिलता है।

प्रकाशित ख्याल-पुस्तकों में इन ख्यालों के नाटिक, ब्यावला, निसानी, लीला, मासिया, लावणी, रसिया, कथा, कीर्तन शिलोका, धमाल, बहार, चरित्र आदि नाम भी पाये जाते हैं। [3] मंच, वाद्य कथावाचन, अभिनय, समया आदि के अनुसार भी ये ख्याल विशेष सरणियों में विभक्त हुए और होते-होते इनकी कई रंग-शैलियाँ बन गईं। [4] स्थान विशेष के अनुसार भी इन ख्यालों ने नामकरण पाया और किसी क्षेत्र-

---

३–(i) नाटिक– बालासिसु विवाह नाटिक; शिवकरण रामरतन दरक, प्रकाशक- कासीराम बुकसेलर, भीलवाड़ा, सं० १९७० ।
(ii) ब्यावला– रामदेवजी का ब्यावला; (शिवदयाल) ।
(iii) निसानी– नाथूलाल गोविंद को चेलो नल की कहै निसानी ।
–ख्याल राजा नल का; नाथूलाल राणा, प्रका० बाबू कन्हैयालाल बुकसेलर, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर, पृ० २ ।
(iv) लीला– नानूलाल चिड़ावे वालो नललीला कथ गाई । वही, पृ० ८८ ।
(v) मासिया– ख्याल बारहमासिया ।
(vi) लावणी– बारह मासिया की लावणी, लावणी पंचरत्न ।
(vii) रसिया– ब्रज के रसिया, रास बिहारी के रसिया ।
(viii) कथा– श्रीरामदेव लीलामृत कथा (लच्छीराम)
(ix) कीर्तन– श्री केला कीर्तन (बंशीलाल)
(x) शिलोका– तेजाजी का शिलोका (पुनमचन्द सिखवाल)
(xi) धमाल– होली की धमाल (जगदम्बालाल)
(xii) बहार– हिंडोला बहार (जयदयालु वर्मा)
(xiii) चरित्र– ख्याल संग्रह चरित्र, (नानूराणा), मोरध्वज चरित्र (मनीराम), ध्रुवचरित्र का ख्याल (धन्नालाल)

४–(क) मंच के अनुसार जैसे–माच के खेल । ये प्रायः मन्दिर के पास होते हैं । मन्दिर पर चढ़कर सूत्रधार स्तुति परक छंद गाता है जिसे अभिनेता

विशेष के ख्याल उसी नाम-विशेष से पुकारे जाने लगे[५] । यहाँ तक कि ख्याल-लेखकों की लोकप्रियता के साथ-साथ उनके द्वारा रचे जाने वाले

मंच पर खड़े दुहराते हैं । इनका प्रचलन झालावाड़ की ओर खूब रहा है । य वीर, प्रेम और भक्ति परक होते हैं । वीररस के माच में कामरैन का राजा हमीर, प्रेम के अन्तर्गत पचफूला, आभलदे खेमजी, मूनारानी, सदावृत्त सारंगा, ढोलामारवण, हीर रांझा तथा भक्तिरस में ,मोरध्वज, प्रहलाद, रामायण, धनुषयज्ञ, गेंदलीला, नागलीला आदि के माच उल्लेखनीय हैं ।

(ख) वाद्य के अनुसार-जैसे कड़ा शैली के ख्याल। वीररस से पूर्ण शैली, जिसमें एक व्यक्ति किसी लोककथा का गायन करता है और पूरा समूह उसकी प्रमुख पंक्तियाँ दुहराता है । टेक झेलने के लिए नगाड़ों की किड़किड़ाहट देखते ही बनती है । इसी किड़किड़ाहट से नाट्यों की यह शैली आगे जाकर 'कड़ा' नाम धरपाई । यह नौटंकी से बिल्कुल भिन्न होता है । पृथ्वीराज वीर की कथा इस शैली का प्रसिद्ध नाट्य है ।

(ग) कथावाचन में अकेला कथावाचक अनेक पात्रों की रचना करता है । यह रचना वचन, भावभंगिमा तथा मुद्राओं के विविधरूप लिये होती है । वाचन टुकड़े-टुकड़े करके होता है । इसी कथावाचन की शैली पर संवादात्मक प्रेमकथाओं और वीरगाथाओं के रूप में देवनारायण, रामदेव, ढोलामरवण, रतना रेबारी का महाभारत का मार्मिक पाठ होता है । इनमें घटना वैचित्र्य और प्रेमजन्य आवेश की बहुलता मिलती है । ढोलामारवण इसमें विशेष प्रसिद्ध है ।

(घ) अभिनय में अनेक पात्र अनेक रूपों में मंचपर उतरकर आलादर्जे का अभिनय करते हैं । अभिनयात्मक संवादों का एक अलग प्रकार और है । इसके संवाद नौटंकी के आधार पर होते हैं । इनमें तेजाजाट, डूंगजी जुवारजी, गोपीचन्द-भरथरी आदि विशेष प्रचलित हैं ।

(ङ) समया नाटकीय परम्परा रामलीला से मिलती जुलती होती हैं । इसमें वाद्य, गीत और नृत्य का तीव्र उफान देखने को मिलता है ।

—श्री गींडाराम वर्मा द्वारा लेखक को भेजे गये पत्र के आधार पर ।

५—(क) स्थान—विशेष के अनुसार जैसे— किशनगढ़ के किशनगढ़ी रंगत के ख्याल तथा नागौर के नागौरी पट्टी के ख्याल ।

(ख) क्षेत्र—विशेष के अनुसार जैसे—शेखावाटी प्रदेश में प्रचलित शेखावाटी ख्याल । मारवाड़ी तथा मेवाड़ी ख्याल ।

ख्याल भी उन्हीं के नाम से चलने लगे ।[६] इस प्रकार ख्यालों की यह चलत कई रंगशैलियों में प्रकटित हुई । शैली, रंगत, बहर, गायकी, छाप, पट्टी, बनावट, बणघट तथा चाल के अनुरूप यहाँ के ख्याल कई रूपों में देखे, सुने और समझे जाने लगे । मोटे रूप में इन ख्यालों की रंगतें इस प्रकार पाई जाती हैं—

(१) माच (२) तुर्राकलंगी (३) कुचामणी (४) शेखावाटी (५) नौटंकी
(६) चिड़ावी (७) रम्मत (८) कड़ा (९) समया (१०) कथावाचन
(११) अभिनय (१२) चौबोला (१३) हाथरसी (१४) अलीबक्षी
(१५) किशनगढ़ी (१६) मेवाड़ी (१७) जयपुरी (१८) झाड़शाही
(१९) मारवाड़ी (२०) दांतारामगढ़ी तथा (२१) नागोरीपट्टी

विशेषताएँ

इन ख्यालों की कई एक विशेषताएँ रही हैं । प्रारम्भ में (तथा अंत में भी) अखाड़े में फतह पाने के लिए[७], अपना सवाया मान रखने के लिए[८], ख्याल को पार उतारने के लिए[९], दुख दारिद्र दूर करने के

---

[६] इस संदर्भ में अलीबक्ष द्वारा लिखित 'अलीबक्षी ख्याल' अलवर की ओर विशेष प्रचलित रहे हैं । उनके नाम पर तो ख्यालों की एक रंगत ही चल पड़ी जो 'अलीबक्षी रंगत' के नाम से लोकप्रिय हुई । अन्य ख्याल-लेखकों ने भी इस रंगत में अपने ख्याल लिखे ।

[७] चिमनलाल मोती की किरपा फते अखाड़े पाऊं ।

—भरतरी पिंगला का मारवाड़ी खेल; पूनमचन्द सिखवाल, प्रकाशक—पं० बंशीधर शर्मा, किशनगढ़, सं० २०१३, पृ० ४ ।

[८] ध्यान धरूं गोपाललाल का रखें सवाया मान ।

—ख्याल पचफूला रानी या ख्याल आसा डाबी को; धन्नाधन्न, प्रकाशक—हिन्दी पुस्तकालय, मथुरा, पृ० १ ।

[९] मैं छूं सेवक आपका साथे ख्याल उतारो पार । वही, पृ० ४ ।

लिए[१०], भूले हुए हरफ पाने के लिए[११], दंगल में मंगल के लिए[१२], दध अक्षर को टालने के लिए[१३], ख्याल मंडली के मुख पर नीर चढ़ा रहने के लिए[१४], अच्छी चाल और स्वर-ताल के लिए[१५], शुभ अक्षर का बोध प्राप्त करने के लिए[१६], दुश्मन का मुँह काला करने के लिए,[१७] लुच्चे, लंपट, कुकर्मी,

---

[१०] मैं छूं सेवक आपका सो करो दुख दालिद्दर दूर ।
—वही, पृष्ठ २-३ ।

[११] मोहि भूल्योड़ा हरफ बताय दीज्यो जी ।
—प्रणवीर राठोड़ पाबूजी का मारवाड़ी खेल; बंशीधर; पृ० १ ।

[१२] करज्यो दंगल में मंगल ।
—वही, पृ. १ ।

[१३] दध अक्षर कूं टाल भवानी शुभ गुण देवो हमेश ।
—ख्याल दयाराम धाड़वी को; प्रहलादीराम प्रोहित, प्रकाशक–ज्ञानसागर प्रेस, बंबई, सं. १९६१, पृ. १ ।

दग्धाक्षर यह आठ हैं ह, ब, ध, र, घ न, स, म, सोय ।
रूपक में पिंगल कहै, आदि न दीजै कोय ॥

[१४] तेज मंडली के मुख नीर चड़यो राखे नित, भाखे कवि तेज अर्ज ध्यांन धर लीजोजी ॥
—मूमल म्हदरे का खेल; तेज कवि, प्रकाशक–जगन्नाथ हुकमचंद कल्ला, जैसलमेर, पृ. २ ।

[१५] अच्छी मारवाड़ी चाल ढूंढ अच्छे स्वर ताल, बंशीधर आज खेल पाबू को बताऊं हूँ ॥
—प्रणवीर राठोड़ पाबूजी का मारवाड़ी खेल; बंशीधर शर्मा, पृ ५ ।

[१६] दीज्यो ख्याल सुधार क किरपा कीजिये । सुभ अक्षर को बोध सदा मोय दीजिये ॥
—ख्याल दयाराम धाड़वी को; प्रहलादीराम प्रोहित, पृ. ३६ ।

[१७] पूनमचंद के सब शिष्यों का महावीर रखवाला । सेंण हमारे होरी खेले दुश्मण का मुँह काला ॥
—राजा केवाट का मारवाड़ी खेल; पूनमचंद सिखवाल, पृ. ५६ ।

हुल्लड़बाज चोर, चकोर और चुटीलों की बुद्धि हरने के लिए[१८] मंगलाचरण अथवा स्तुति के रूप में गणपति, शारदा, जगदंबा, भवानी, कालका, दुर्गा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, काला-गोरा, चौंसठ जोगण्यां, बावन-वीर, महेश, हनुमान, अल्ला आदि इष्ट देवों का स्मरण कर उनसे कोकिला सा कंठ और सवाई बुद्धि प्राप्त की जाती है।[१९] अखाड़े की निर्भय जीत के लिए नुगरों को धिक्कारा जाता है। हल्ला-गुल्ला अथवा गुलबा करने वालों को आन दिलाई जाती है और पाप लगने की घोषणा की जाती है।[२०] छपे ख्याल और ख्याल की छाप को तोड़ने-भांगने वालों को स्पष्ट ऐलान किया जाता है और 'भषजावेजी काली' जैसी भावना व्यक्त कर गौ-घाती और 'हत्यारा तक बता लाया जाता है।[२१] अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति से उस्ताद (गुरु) को

१८— लुच्चे लंपट और कुकर्मी अथवा हुल्लड़बाज। चोर चकोर चुटीले निन्दक जाँय सभा से भाज॥

—प्रणवीर राठोड़ पाबूजी का मारवाड़ी खेल; बंशीधर शर्मा, पृ. ४।

१९— कंठ कोकिला सा कीजै, बुद्धि सवाई दीजै, कारज द्यो सार मोकु बालका सा जानके ।

—मालदे हाडीरानी को ख्याल; उजीरा तेली, सं० १९५६, पृ० १।

२०— (क) हल्लागुल्ला बंद करो सब अंजनी सुत की आन।

—बगड़ावत भारत का मारवाड़ी खेल; बंशीधर शर्मा पृ० ४।

(ख) गुलबा करे ख्याल में जिसको है चितोड़ का पाप।

—खेल राजा केशरसिंह रानी फूलादे; पं० शेषदास, प्रकाशक—पं० श्रीधर शिवलालजी, किशनगढ़, सं. २०११, पृ० २।

२१— (क) छपा ख्याल की तौड़े जिसकूं भषजावेजी काली।

—ख्याल नल राजा का; नानूराणा, पृ० २।

स्मरण कर मुजरा-सलाम दिया जाता है। छंद गाने वालों का नामोल्लेख किया जाता है।[२२] पेश किये जाने वाले ख्लाल-तमाशे की उद्घोषणा की जाती है।[२३] कभी प्रारंभ में, कभी अंत में और कभी प्रारंभ, मध्य और अंत में ख्याल-लेखक अपना परिचय, निवास, जाति आदि के साथ-साथ अपनी छोटी-मोटी वंशावली भी दे देता है।[२४] जहां ख्याल जोड़ा गया है उस स्थान के साथ-साथ अंत में रसिये के रूप में कलाकार,

---

(ख) मत बढ़ावो मती घटावो, मैंने रचा सो ही तुम गावो।
मत नाम काफ़िया देना, सतधर्म पै कायम रैना।
तोड़े भांगे छाप वो ही नर गौघाती हत्यारो जी।
—भरतरी पिंगला का मारवाड़ी खेल; पूनमचन्द सिखवाल, पृ० १०।

[२२] कह सुखजी नानू उस्ताद हुकम फरमाबे। कथ लादू जानकी छंद सभा में गावे।
—ख्याल पचफूला रानी या ख्याल आसा डाबी को; धन्नाधन्न, पृ० १५।

[२३] माता आवो सरस्वती शुभ गण देवनहार
शिव सुत राजकंवार को तो नमस्कार हरबार
नंद गुरु की कृपा से तो हो जाय बेड़ापार
गोगादेव चौहान का तो खेल सुनो नरनार।
—वीर गोगाचौहान का मारवाड़ी ख्याल; ब्रह्मभट्ट कवि अम्बालाल, प्रकाशक-फूलचन्द, बुकसेलर, पुरानी मण्डी, अजमेर, पृ० १।

[२४] संवत उन्नींसे ग्यारहव अमरसिंह को ख्याल
सुभस नग्र इन्दौर में ज्योड़यो मोतीलाल
मोती सुत है गेंद को सब गुणियन का दास
सैन वंस में ऊपनो बसे बीकाणे वास।
—अमरसिंह राठौड़ का मारवाड़ी खेल; मोतीलाल, प्रकाशक—आर्य ब्रादर्स, बुकसेलर, अजमेर, सं० २०१२, पृ० ९६

गायक, साजिन्दे, टेरिये, जमादार, मददगार, महरबान आदि के नामों की लम्बी गाथा भी जोड़दी जाती है।[२५] कई ख्यालों के प्रारम्भ में टेर शुरु कर दी जाती है जिसमें आरम्भ होने वाले ख्याल की एक हल्की सी झलक मिल जाती है और उसके बाद स्तुति परक छंद दे दिये जाते हैं। यह टेर प्रायः हलकारे की हुआ करती है जो दर्शकों को चुप कर खेल प्रारम्भ कर देता है। यथा—

टेरफिरी— थारी लटक चाल पर वारी जी मांरा सांमरीयर जेठूत ॥
टेरजेठूत की-काकी छेड़ मतीलो मारोजी थें जावो अठासूं ऊठ ॥[२६]

× × ×

टेर हलकारे को—आये हलकारा केशरसिंह का चुप रहो सभा में ॥[२७]

कहने का तात्पर्य यह कि ख्याल लेखक अपनी ओर से कोई बात छोड़ता नहीं है वह छोटो से छोटी और बड़ी से बड़ी बात, जो कहने अथवा नहीं कहने की होती है, उसे भी जो खोलकर कह देता है।

२५— देखरया नरनारी सारा नृप केवाट को ख्याल। सदा चिरंजी नग्र बसो कहे पूनमचन्द सिखवाल ॥ दो हजार आठा वैसाख सुद बुध दिन आखा तोज। पूनम ख्याल लांब्या में जोड्यो सजन गया सब रोज ॥ बड़ायली और लांब्या मेड़ते शिष्य मडली खेले। आनन्द आवे खुशी मनावे टेर टेरिया झेले ॥ लांब्या में शिवदयाल सूवा बड़ायली में लालू। शहर मेड़ते मोहनलाल हनुमान शेंत्रमल बालू ॥ पूनमचन्द के सब शिष्यों का महावीर रखवाला! सैंण हमारे होरी खेले दुश्मन का मुंह काला ॥

—राजा केवाट का मारवाड़ी खेल; पूनमचन्द सिखवाल, पृ० ५५-५६।

२६— काकी जेठूत का ख्याल; बिछुलाल, प्रकाशक—पं० जगदम्बालाल हरीकरणजी, धुलिया, खानदेश, स० १९८१, पृ० १।

२७— खेल राजा केशरसिंह और रानी फूलादे; पं० शेषदास, प्रकाशक—ज्ञानसागर प्रेस, किशनगढ़, स० २०११, पृ- १।

राजदरबार लगने वाले ख्यालों में सर्वप्रथम महतर, भिश्ती, फर्रास, हलकारा, चोपदार, सिपाही आदि आते हैं और उसके बाद मूल ख्याल प्रारम्भ होता है। महतर झाड़ू लगाता है। भिश्तो पानी का छिड़काव करता है। फर्रास बिछात करता है। तंबू तानता है। डेरे लगाता है और तख्ते धरता है। हलकारा बादशाह का हुक्म बजाता है। देश विदेश की खबरें सुनाता है और खान उमरावों को हाजिर करता है। चोपदार आगन्तुक महरबानों को मुजरा-सलाम कर उन्हें अपना-अपनी जगह बिठाता है। सिपाही पहरे पर खड़ा रहता है तथा सूचना मिलते ही बाहर संदेशा पहुँचाने तथा खबर लाने की नौकरी साधता है। उदाहरण लीजिये—

टेर महतर की—
आये मैतर बादस्याहूँ के नोकर शाहजान के ।। टेर ।।
कल्यापाक बंदगी करते पांच बखत नहीं चूके ।
जूठण खाकर करें गुजारा सीरावण के टूके ।। आ० ।।
पायखाना और झाड़ें जाजरू मैतर चार हजार ।
मेरी नौकरो खास कचेरो मैं सबका मुखत्यार ।। आ० ।।
झाड़ू मेरी रंगरंगीलो लिया टोकरा हाथ ।
एक घड़ी को भंगियारो मैं फेर जात को जात ।। आ० ।। [२८]

टेर भिश्ती की—
आये भिश्ती बीच कचेरो फजर शाम छिड़काव कर ।। टेर ।।
कोठी और पखाल बादला मश्क डोलची होद भरें ।
हाथी घोड़े बैल पिलावें पानी की हम पेल करें ।। आ० ।।
भिश्ती से कुछ परदा नाहीं सबके घर में जावे ।
रखे हमारा मान कचेरो जलदी चीठा पावे ।। आ० ।। [२९]

२८- अमरसिंह राठौड़ का मारवाड़ी खेल; मोतीलाल, पृ० १-२ ।

२९- वही, पृ० २-३ ।

टेर फर्रास की—

आये फर्रास बादस्याहूँ के करें बिछायत तख्त धरें ॥ टेर ॥
डेरे और कनात चानणी करूं बिछायत ताजी ।
झटक फटक कर तख्त बिछावें हेंर बादस्या राजो ॥ आ० ॥ [३०]

टेर हलकारे की—

आये हलकारा बादस्याह के नौकर हैं सहाजान के ॥ टेर ॥
देश देश को खबर सुनावां दरियावां के पार ।
दस हजार हलकारे मेरे सच्चा दें अखबार ॥ आ० ॥
ये भो हुकम है बादस्याहूँ का तुरत कचेरी भरणा ।
सतर खान उमराव बहोतर जलदी हाजर करणा ॥ आ० ॥ [३१]

टेर चोपदार की—

आये नकीब बादस्याहूँ के नौकर हैं सहाजान का ॥ टेर ॥
सतर खान उमराव बहोतर सबको करी सलाम ।
अपनी–अपनी ठौड़ बिठावां यही हमारा काम ॥ आ० ॥ [३२]

टेर शेरखां पठाण की—

आये शेरखां मरद सिपाई नौकर हैं सहाजान के ॥ टेर ॥
सरसत माय शारदा सिंवरू पूरे मनके काम ।
मोतीराम उस्ताद हमारा जिसकं करूं सिलाम ॥ आ० ॥
साहाजान की करें नौकरो तलब उणी से पावें ।
चढ़ घोड़े पर खड़े सामने ज्यां भेजे त्यां जावें ॥ आ० ॥ [३३]

---

[३०] अमरसिंह राठोड़ का मारवाड़ी खेल; मोतीलाल, पृ० ४ ।

[३१] वही, पृ० ५ ।

[३२] वही, पृ० ५ ।

[३३] वही, पृ० ६ ।

ख्याल–गीत, नाट्य, नृत्य और वाद्य का सम्मिलित रूप है। परन्तु सभी ख्यालों में इनकी समानता देखने को नहीं मिलती। किन्हीं में किसी विशेष पक्ष की प्रचुरता रहती है तो किन्हीं में किसी अन्य पक्ष का दौर्बल्य। उदाहरण के लिए किशनगढ़ी ख्यालों में जहाँ गेय पक्ष की प्रचुरता मिलती है वहाँ उसका नृत्य पक्ष थोड़ा दुर्बल पड़ जाता है। शेखावाटी के ख्यालों में उच्चस्तरीय संगीतात्मक गायकी मिलती है। नौटकी के ख्याल, नक्काड़ों की प्रधानता के कारण, नक्काड़ बाजी के ख्यालों में शुमार किये जाते हैं। अत्यधिक कूदाफाँदो के कारण माच के ख्यालों को तख्तातोड़ ख्यालों की संज्ञा दी जाती है। कुचामणी ख्यालों को रोवणी धुन के ख्याल कहते हैं। रासधारी के खिलाड़ी जब नृत्य को उतर पड़ते हैं तो जमीन से इतनी धूल उड़ती है कि आस-पास का सारा वातावरण धूलि धूसरित हो उठता है। अभिनय की जितनी बारीकियाँ रासलीला में देखी जाती हैं उतनी अन्य किन्हीं ख्यालों में नहीं।

विषय वस्तु

विषय–वस्तु की दृष्टि से इन ख्यालों को चार भागों में बांटा जा सकता है—

(१) ऐतिहासिक (२) शृंगारिक

(३) सामाजिक (४) धार्मिक।

ऐतिहासिक ख्याल– इन ख्यालों का विषय लोकजीवन के ऐतिहासिक धरातल पर पूर्णतया कसा हुआ होता है। इनके नायक वीर, पराक्रमी, साहसी, दृढ़व्रती तथा शुभ चिन्तक होते हैं। वे समाज को अपने साथ लेकर चलते हैं और वक्त आने पर समाज के लिए अपने आप को खपा देते हैं। इनका व्यक्तित्व विराट, व्यवहार निछछल, आदर्श अनुकरणीय और कार्य चमत्कारिक होता है। यही कारण है कि लोक-गाथाओं में वर्णित नायक ऐसे ख्यालों के सर्वाधिक प्रिय विषय बन

जाते हैं। इनमें राजा विक्रमादित्य, अमरसिंह राठौड़, गोगाजी चौहान, पाबूजी, देवनारायणजी. तेजाजी, रामदेवजी. डूंगजी, जुहारजी, बलजी, दूला धाड़वी, दयाराम धाड़वी आदि के ख्याल विशेष उल्लेखनीय हैं।

शृंगारिक ख्याल– लोकजीवन में जो प्रेमाख्यान लोकप्रिय रहे हैं, उन्हीं को आधार मानकर शृंगारिक ख्यालों की रचना प्रारम्भ हुई। इनमें प्रेमी–प्रेमिकाओं की जिन्दादिली अपने जीवत-ध्येय के साथ अपना मार्ग प्रशस्त करती रहती है। एक दूसरे को पाने को बलवतो जिज्ञासाएँ दृढ़तर होती हुई देखी जातो हैं। कठिन से कठिन घड़ियों में भी वे अपने सात्विक प्रेम की दीपशिखा प्रज्वलित किये निरन्तर गतिमान होते रहते हैं और अंत में उनका ध्येय, उनकी लगन, उनका विश्वास, उनका साहस और उनकी साधना सफलीभूत होतो हुई नजर आती है।

प्रेमी–प्रेमिकाओं की आपसी भेंट की यह प्रक्रिया अधिकतर सूवा और मालिन के सहयोग से ही पूरी होती है। जहाँ सूवे अड़भोपे बन कर रेखाओं के फल सुनाते हैं, [३४] पहेलियों के अर्थ छुड़ाते हैं [३५]

३४- कर में मच्छ रेष मस्तक में तिल्ल गाल पर दाड़ै। ये लच्छन पदमनी नार का बेदूँ माय बखाड़े। तूँ बड़भागन व्याही तिरिया जावै बड़े ठिकाड़े। जागी बड़े ठिकाड़े लिखा इस रेष में। ब्यावै राव रिसालू तुमको सेष में।

—राव रिसालू नोपदे का ख्याल; झालोराम, पृ० ११।

३५- कोण सरोवर पाज बिना सुवा कोण पेड बिना डाल। कोण पखेरू पांख बिना सुवा कोण मौत बिना काल॥ नैन सरोवर पाज बिना त्रिया धरम मूल बिन डाल। जीव पंखेरू पंख बिना त्रिया नींद मोत बिन काल॥

जामतड़ी गज तीस की सूवा भर जोबन गज च्यार। बूणी हुयां गज साठ की सूवा अंत न पार॥ दिन ऊगे गज तीस की, छाया दोपहरां गज च्यार। सांज हुयां गज साठ की दिन छिपे अन्त न पार॥ वही. पृ० ३३।

और अपने प्रेमी के साथ उनकी सांठगाठ कराते हैं वहाँ मालिनें अपने 'बाईसाब' के जनाने बाग में उन्हें विश्राम देती हैं [३६] और वक्त आने पर उन्हें हार गूंथने वाली अपनी बहू बनाकर ठेठ बाईसाब के पास छोड़ आती हैं। [३७] सच्चे प्रेमी अपने प्रेम पर अडिग रहते हैं। कोई भी बन्धन, रिश्ते और मर्यादाएँ उन्हें विलग नहीं कर पातीं। दोनों एक दूसरे के लिए मरमिटते हैं। नौटंकी के पिता ने जब उसके प्रेमी को फांसी का हुक्म दे दिया तो वह दौड़ी-दौड़ी वहाँ पहुँची। जल्लादों को धक्का देकर दूर किया, प्रेमी को फांसी से हटाया और अपने पिता से कहा–

३६– खिड़की खोलो ने मालन बाग की विसराम करण दे ॥ टेर ॥ बाग जनाना बाईसाब का खिड़की नहीं खोला ॥ टेर ॥ खिड़की खोलो बाग की र मैं दूर देस से आया। धूप पड़े धरती तपे सजी दिल मेरा घबराया। घुड़ला बांधूं आम के र मैं ऊतरां चम्पा छाया ॥ बिस० ॥ मालन जात गंवार की र पण तने नहीं छै तोल। पांच मोहर दी सू क की र तू जल्दी खिड़की खोल। छाने काम वणादे मालन मती बजावे ढोल ॥ बिस० ॥ केशरसिंह महाराज आपका बड़ा अनोखा घोड़ा। बहुत उडीक्या आपने र थे बहुत पधार्‌या मोड़ा। उतरो चम्पा बाग में र कोई दिवस रहगया थोड़ा ॥ खि० ॥
—खेल राजा केशरसिंह और रानी फूँलादे; पं० शेषदास, पृ० १८-१६।

३७– आल्हा–ऐसी बहुअर तोय बनाऊं लखिकर हूर परी शरमाय। नौटकी से हुस्न चौगुना प्यारे तेरा दऊं बनाय। तुरत न्हिलाकर मैंने कुमर के सिर में अतर दिया छिड़काय। पटियाँ दोनों पार ज्वान के दोनों मांग सिंदूर भराय। बिन्दी लगादई माथे पर नैनन काजर दियो लगाय। नाक में डारी नथ झलकारी अधरन लटकन झोका खाय। हंसली हार हमेल गले में मोहन माल दई पहराय जुगनू बाजू छन्न पछेली जोशन कंकन शोभादार। करनफूल झुमका कानन में पांयन पायल की झनकार। सारे गहने सजा अंग पर चोली बाँहन दई चढ़ाय। दामन पहरायौ प्यारे को ऊपर सारी दई उढ़ाय। मुख बीड़ा से सजा ज्वान

इसको उतार फाँसी से जल्द दीजिये
अब साथ इसके शादी पिता मेरी कीजिये
इसमें करोगे उजर अगर जरा तुम पिदर
तो यह तुम्हारा सर है और यह मेरा खंजर
तुम किसी को तो शादी मेरी करोगे आखिर
इस साथ ही बरदो यही मेरी पसन्द बर
राजी से मानो पिता होय तुम्हारी वाह वाह
नहीं यों भी वाह वाह है और यों भी वाह वाह ।। [३८]

इन ख्यालों में सहजादा सुलतान, पद्मावत, वीरमसिंह नौटंकी, भंवर चमेली रूपरत्न रसफूलां, राजा रिसालू नोपदे, पंचफूला राणी, नौटंकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत, मूमल म्हदरे, हीररांझा, लैला-मजनूं, सुलतान निहालदे, ढोला मरवण, पन्नावीरमदे, माधवानल काम-कंदला, रिसालू बेलादे, बज्रमुकुट, राजा केशरसिंह और रानी फूँलादे आदि लिये जा सकते हैं।

सामाजिक ख्याल—इन ख्यालों में समाज में व्याप्त बुराइयों एवं कुप्रथाओं तथा उनसे उत्पन्न दुष्परिणामों का खुला चिट्ठा वर्णित रहता है। अनमेल विवाह, नाजायज रिश्तेनाते, नशाखोरी, जादूटोने आदि इन ख्यालों के मुख्य विषय हैं। इनमें भरपूर हास्य के साथ तीखा व्यंग्य छिपा रहता है जो दिलपर सीधो चोट करता है। उदाहरण—

को तब डोला में लियौ बिठाय। डोला संग लियौ मालिन ने शीश महल में पहुँची जाय। सन्मुख नौटंकी के आई मालिन यों रही बचन सुनाय। दो–बहू ये मेरी प्यारी। आपकी नजार गुजारी इसी ने गुंथा हार है। लाज शरम की भरी हुई मेरी बहुअर होशियार है ॥

—सं० नौटकी शहजादी उर्फ अय्यारा औरत; पं० नथाराम शर्मा, हाथरस,
पृ० २७–२८।

३८– वही पृ० ४७।

टेर माँ बेटी के ।।टेर।। पीयर दिन काढूं किणरे ग्रासरे नित भाँडू थांनूं ।।टेर ।। मोटो हुय जासी जाजे सासरे मत भाँडे म्हांनू ।। दोहा धनवंत देख्यो सासरो सदी छोटानें परणाय । सहजां ग्रावे ठिणकतो सयो टांगां में रूल जाय । म्हारो दिल उलटे घणों सहूं ब्याँइ करूँ ये माय । हो नित भाँडू ।।१।। बेटी चिन्ता मत करे स यो काल बड़ो हुय जासी । सालम मिश्री मूसली सनें कंद बिदारी खासो ।। दिन दिन ग्रासी जौर में स काँइ सहजाँ रंग बणासी ।। हो मत ।। तें धन देख्यो माथड़ो स म्हारे बाबलिये पिण बोई ।। बेनड़ करी कुसामदी सनें बीर ग्रकल सब खोई ।। सत मास्यो परणाय के स मनें काली धार डुबाई ।। हो नित भांडू ।।३।। [३९]

कुछ ख्याल ऐसे भी लिखे गये हैं जो केवल कामवासनाग्रों को बढ़ावा देकर हल्के दर्जे का मनोरंजन करते हैं । ऐसे ख्यालों में मस्तपरी का ख्याल द्रष्टव्य है—

लावणी परी की–मेरे ग्राया महल फकीर सुनों रो गोरी, मेरे ग्रा सपना के बीच खेल गयो होरी । ग्रंतरा–मैंने सब जड़वाये महल फुलन की क्यारी क्या फरररररर पवन चले पिचकारी । मेरे घर छतियन पर हाथ लगागयो यारो क्या थरररररररर कंप उठी तन सारी । × क्या कररररररर ग्राँख खुली है मेरो । क्या शरररररर शरम भगी मेरी । × क्या तननननननन मांन से गाती । × क्या चररररररर चोरी फटी सब जातो । × क्या धडडडडडडडड धड़क उठी मेरी छतियाँ । क्या नरररररर नाम लेते दिन रतियां । [४०]

सामाजिक ख्यालों में बाला सिसु विवाह नाटिक, मस्तपरी, नने खशम काकीजेठूत, खटपटिया, छोटाबालम, नशाबाज ग्रादि बहुचर्चित ख्याल है।

३९– बाला सिसु विवाह नाटिक, छोटाकंथ; शिवकरण रामरतन दरक, प्रकाशक–रामरतन कासीराम, बुकसेलर, भीलवाड़ा, सं० १६७०, पृ० ७–८ ।

४०– मस्तपरी का ख्याल; घनश्याम शर्मा, रामश्यामप्रिंटिंग प्रेस, कटला बाजार, जोधपुर, सं० १६६७ पृ० १८–१९ ।

धार्मिक ख्याल—इन ख्यालों की आत्मा, लोकजीवन में व्याप्त वे धार्मिक प्रसंग होते हैं जिनके प्रति लोगों की अपार श्रद्धा एवं भक्ति निहित रहती है। भक्ति, दान, शील, तप, धर्म, त्याग आदि के कारण समाज जिनके आदर्शों का अनुकरण करता है, उन्हीं उच्चात्माओं की जीवन लीलाओं को लेकर इन ख्यालों का प्रणयन होता है। जनजीवन में ये ही ख्याल विशेष स्वीकारे जाते हैं और यही कारण है कि इनके प्रदर्शन सर्वाधिक रूप में देखने को मिलते हैं। इनमें रुकमणी मंगल, भक्त पूरणमल, राजा हरिश्चन्द्र, सती हेमकुंवर, नल-दमयंती, भक्त-सुदामा, भरतरी पिंगला, द्रोपदी स्वयंवर, नरसी मेहता, चंदमिलयागिरी, आनन्द गणपति, मीरां मंगल, गोपीचन्द आदि ख्याल उलेख्य हैं।

रंगमंच

इन ख्यालों के प्रदर्शन के लिए यहाँ रंगमंच का भी बड़ा सुन्दर विधान रहा है। ख्याल के अनुरूप मंच की सृष्टि कर जहाँ एक ओर इन ख्यालों की सुन्दरता में चार चाँद लगाये हैं वहाँ दूसरी ओर इन्हें प्रदर्शन की दृष्टि से भी पूरी-पूरी आजादी प्राप्त हुई है। एक ही मंचपर सभी ख्यालों का प्रदर्शन ख्यालों की प्रकृति के प्रतिकूल तो था ही, साथ ही उनकी मूल आत्मा से भी मेल खानेवाला नहीं था। सामान्यतया यहाँ के ख्यालों में ये रंगमच हमें निम्न रूपों में देखने को मिलते हैं—

मंच

(१) सर्वदिशीयमंच (२) त्रिदिशीयमंच (३) मंडपीयमंच (४) अट्टालीमंच

सर्वदिशीयमंच—ये मंच समतल भूमि पर होते हैं। और सभी ओर से खुले हुए होते हैं। इनकी रंगस्थली दर्शकों के बीच होती है। इन मंचों की कोई सज्जा नहीं होतो। अभिनेता गोलाकार गाते नाचतेहैं और अभिनय करते हुए सभी ओर मुखातिब होते रहते हैं। किसी एक

ही दिशा की ओर इनका प्रदर्शन संभव भी नहीं रहता। इस प्रकार के मंच मेवाड़ की रासधारियों के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

त्रिदिशीय मंच—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार के मंचों में तीन दिशाएँ खुली रहती हैं। इनका पृष्ठभाग ढका हुआ रहता है। बाकी तीनों ओर से जनता बड़ी आसानी से इनपर अभिनीत ख्यालों का आनन्द लेती है। ऐसे मंचों में गाँव का कोई चबूतरा ही मंच बना लिया जाता है। दर्शकों का जमाव दाएँ, बाँए तथा सामने की ओर रहता है। पीछे कपड़ा तान दिया जाता है। ऐसे मंच ख्यालों के लिए बड़े उपयुक्त बैठते हैं।

मंडपीय मंच—ये मंच भी त्रिमुखी अथवा त्रिदिशीय ही होते हैं, पर बांस-बल्लियों की सहायता से इनकी सजावट मण्डप बनाकर की जाती है। ये मंडप बड़े आकर्षक होते हैं। इन्हें फूलपत्तों, रंगबिरंगे कपड़ों तथा कागजों से सजा दिये जाते हैं। ऐसे मंच मुख्यतः कुचामणी ख्यालों में प्रयुक्त किये जाते हैं।

अट्टाली मंच—माच के ख्यालों के लिए अट्टालीनुमा मंच बनाये जाते हैं। ये मंच सर्वाधिक सज्जा लिये होते हैं। १२ फुट से लेकर २०-२० फुट तक की ऊँचाई पर इनमें अट्टालिकाएँ बनाई जाती हैं। झरोखों के रूप में ये अट्टालिकाएँ रंगबिरंगी फलियों, कोर-किनारियों तथा कपड़े-लत्तों से सजाई जाती हैं। राजस्थानी स्थापत्यकला का उत्कृष्ट नमूना इनमें देखने को मिलता है। इन अट्टालिकाओं को झरोखा अथवा महल भी कहते हैं। यह स्त्री-पात्र के लिये बनाई जाती है। इस झरोखे (अट्टाली) के सामने मुख्य मंच बनाया जाता है। यह तख्तों का होता है जो करीब जमीन से ५ फुट की ऊंचाई लिए होता है। इसके पास ही एक छोटा मंच और होता है जो साजिन्दों के बैठने के काम आता है।

भाषा

राजस्थानी ख्यालों की भाषा मुख्यतः राजस्थानो ही रही है। राजस्थान में, अलग २ क्षेत्रों में अलग २ प्रकार की बोलियाँ मिलती हैं। ख्यालों में इन सभी का प्रयोग देखने को मिलता है। इनमें मेवाड़ी, मारवाड़ी, हाड़ोती, जयपुरी, ढूंढाड़ी आदि मुख्य हैं। इनके अलावा किन्हीं विशेष क्षेत्रों में लिखे गये ख्यालों में वहाँ की क्षेत्रीय बोली का प्राधान्य रहा है। इस दृष्टि से कुचामणी, शेखावाटी आदि क्षेत्रों के ख्याल देखे जा सकते हैं। इनके अलावा इन ख्यालों में उर्दू फारसी का भी प्रयोग मिलता है। कलंगी वालों ने, मुसलमान होने के कारण, अपने सारे ही ख्याल उर्दू, फारसो की जबान में लिखे हैं। कहीं-कहीं संस्कृत तथा अंग्रेजी का प्रयोग भी देखा जाता है।

राग तथा रंगत

यहाँ के ख्याल दोहा, कवित्त, छप्पय, शेर, आल्हा, दौड़, चौपाई, झड़, गजल, झेला, सवैया आदि में लिखे गये हैं। पाद पूर्ति के लिए जगह-जगह इन ख्यालों में र, जो, स, सजो, क, सरे, जो, सदी, सनें, तो, ती आदि का प्रयोग मिलता है।[४१] ये ख्याल मुख्यतया टोड़ी, लावणी,

---

४१- यथा—

(क) बालाजी महाराज के र में चरना शीश नवाया।

—ख्याल पचफूला रानी या ख्याल आसाडाबी को। धन्नाघन्न। पृ० ३।

(ख) बलदाऊ को इस्ट हमारे रण में फते जो पावां।

—ख्याल दयाराम धाड़वी को। प्रहलादीराम पुरोहित। पृ० २।

(ग) देखी थारी वीरता स जद प्रण कीन्हों मनमाय।

—बगड़ावत भारत का मारवाड़ी खेल। बंशीधर शर्मा। पृ० ३१।

(घ) मैं रेबारी जात रो सजी सांड्या को व्योपार।

—वही, पृ० १६।

कालंगड़ा, माढ़, चन्द्रायणी, कब्बाली, झड़, तिझड़ी, रेखता, घूमणी, थियेटर, वराडी, तिपदी, दुलाणी, तिलाणी, चौझड़ी, मारवाड़ी, मेवाती, अलीबक्षी, शेखावाटी, पहाड़, झेला, लंगड़ो, रासड़ो, आरसी, हिंडोली, रतवो, जानकी, कव्वाली, बोझड़ी, खड़ी, पारकी, भैरवो, गजल, कैरवो, चलन, हरियाना, रसिया, झाड़शाही, कड़ी, खेंच, घूमर, सोरठ, वियाग, डेडकड़ी, आसावरी, सोहनी, ठुमरी, दादरा, शकीस्ता, तवील, शकील, द्रोण, विरूदन, बिकट विरूदन, दिलबहार, जिगरी, एजन, जुल्मार, दिलपसंद, वशोकरण. पदमावत, सिंगाविलोचन, बहरबील, झिझोटी, जैजैवंती, भरविलावणी, काफी, देश, घनाश्री, कानड़ो, करनीमारू आदि रागों तथा रंगतों में लिखे मिलते हैं ।

इन ख्यालों में भारतीय परम्परा के मूल सिद्धान्तों की पालना देखी जाती है । यद्यपि इनका कथानक उतना सुगठित नहीं होता । चरित्र अपना पूर्ण उत्कर्ष दिखाये बिना ही लुप्त हो जाते हैं । कभी २ घटनाएँ

(ङ) कालिमी चित्त चढ़ी थारी क बैनड़ सुनो बात हमारी ।
—बगड़ावत भारत का मारवाड़ी खेल । बंशीधर शर्मा । पृ० १८ ।

(च) मत घबरावे रावता सरे खुशी रहो मन मांय ।
—वही, पृ० १६ ।

(छ) धनवंत देख्यो सासरो सदी छोटा ने परणाय ।
—बाला सिसु विवाह नाटिक । शिवकरण रामरतन दरक । पृ० ७ ।

(ज) बेनड़ करी कुसामदी सनें वीर अकल सब खोई ।
—वही, पृ० ८ ।

(झ) राय चमेली और केतगी सेजां तो करी तयार ।
—विक्रमादित्य राजा और चन्द्रकला का ख्याल । उजीरा तेली । पृ० ३० ।

(ञ) ये चतुर उजीरयो जात को तेली जिनसेती रंगत पाया ।
—वही, पृ० ५१ ।

भी उद्देष्य विहीन लगती हैं परन्तु फिर भी ये सुखांत होते हैं और अपने पीछे अपना विराट संदेश छोड़ जाते हैं। 'कवियों का कल्पवृक्ष राजा भोज' सत्य पर डटा रहने वाला हठोला हमीर, भरे दरबार में अनुचित सम्बोधन के लिए सलावतखां को समाप्त करने वाला अमरसिंह, बादशाह से बदला चुकाने वाला छोटी सी जागीर का स्वामी दुल्हाधाड़ी, शीश का दान देकर सिद्धराज को झुकाने वाला दानवीर जगदेवपँवार, आचरण को पवित्र रखकर नयन विहीन होने वाला भक्त पूरणमल, अपनी भक्ति के बल से साँवल सेठ को भात भरने के लिए बुलाने वाला नरसी मेहता, राजपाट छोड़कर जोग धारण करने वाला गोपीचन्द [४२] आदि ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जिनका प्रदर्शन अपने आप में बहुत बड़ा संदेश, सीख और सत्व देकर दर्शकों के दिलों में पैठ जाता है। इनसे मानव जीवन अपने उच्चादर्शों को प्राप्त करता हुआ भारतीय संस्कृति, समाज, सभ्यता और इतिहास के शाश्वत रूपों का आत्मसात करता है।

ख्याल प्रकाशक

राजस्थान के बाहर मुख्यतया बम्बई, हाथरस, आगरा, कलकत्ता, मथुरा, उज्जैन, छावनी, धुलिया आदि स्थानों से इन ख्यालों की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें से बम्बई इनका प्रमुख केन्द्र रहा है। सबसे पहले ख्याल पुस्तकें यहीं से छपनी प्रारम्भ हुई। और सर्वाधिक मात्रा में छपी भी यहीं। राजस्थान में भी कई स्थानों से ख्यालों की पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। कुछ मुख्य-प्रमुख प्रकाशकों की नामावली इस प्रकार है—

(१) रामरतन कासीराम, बुकसेलर, भीलवाड़ा
(२) नंदलाल डालूका, कुचामण सिटी

---

[४२] राजस्थान के लोकनाटक—ख्याल, मनोहर शर्मा, लोककला, भाग १, अंक १, पृ० ४९।

(३) चिंतामणीदास जंदाणी, जैसलमेर
(४) किशोरीलाल तखतमल, जैसलमेर
(५) जगन्नाथ हुकमचन्द कल्ला, जैसलमेर
(६) बौरा किशनलाल, जैसलमेर
(७) नवी पुस्तकागर तेजकंपनी, जैसलमेर
(८) खत्री भीकमचन्द, कटला बाजार, जोधपुर
(९) फुलचन्द, बुकसेलर, पुरानी मंडी, अजमेर
(१०) आर्य ब्रादर्स, बुकसेलर, पुरानी मंड़ी, अजमेर
(११) पं० जगन्नाथ उपाध्याय, कडक्का चौक, अजमेर
(१२) पं० श्रीधर शिवलालजी, किशनगढ़
(१३) पं० बंशीधर शर्मा, किशनगढ़
(१४) पं० ब्रजमोहन शर्मा, बुकसेलर, किशनगढ़
(१५) बाबू कन्हैयालाल, बुकसेलर, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर
(१६) पंसारी नन्दराम ईश्वरलाल, बुकसेलर, जयपुर
(१७) ईश्वरलाल, बुकसेलर, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर
(१८) लोक साहित्य सदन, जयपुर
(१९) पं० दाऊ–दासी नुक्का मगूं, बीकानेर
(२०) बंशीधर पुस्तकालय, डीडवाना
(२१) शिवदयाल गंगाविशन, बुकसेलर, लांबिया

संक्षेप में, राजस्थान की ख्याल संपदा बड़ी समृद्ध और स्वस्थ रही है। पर क्या आगे भी ख्यालों की यह परम्परा इसो प्रकार रह पायेगी, यह कहना जरा कठिन लग रहा है। •

Nasib Singh Manhas

भारतीय लोक-कला मण्डल के प्रकाशन

१. लोक-कला निबन्धावली, भाग – १ : राजस्थानी लोक-कलाओं जैसे भवाई नृत्य, घूमर और झूमर, संझ्या, लोकनाटक-ख्याल, भूमि-अलंकरण आदि से सम्बन्धित अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत खोज और अध्ययनपूर्ण सामग्री । १८x२२/८ आकार के १२८ पृष्ठ । मूल्य ३) रु. । अप्राप्य ।

२. लोक-कला निबन्धावली, भाग – २ : मध्यभारतीय आदिवासियों, लोकगीतों, लोकवार्ताओं, लोक-अलंकरण-कलाओं, लोकोक्तियों, पहेलियों आदि से सम्बन्धित अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत खोज और अध्ययनपूर्ण सामग्री । १८x२२/८ आकार के १३२ पृष्ठ । मूल्य ३) रुपया । अप्राप्य ।

३. लोक-कला निबन्धावली, भाग – ३ : राजस्थानी लोक-कलाओं, लोकगीतों, लोकानुकृतियों आदि से सम्बन्धित अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत खोज और अध्ययनपूर्ण सामग्री । १८x२२/८ आकार के ११० पृष्ठ । मूल्य ३) रुपया ।

४. राजस्थान के लोकानुरंजन : राजस्थानी लोक-जीवन में प्रचलित नृत्य और अभिनय, आदि का खोज और अध्ययनपूर्ण सचित्र विवेचन । लेखक श्री देवीलाल सामर, सहायक श्री गींडाराम वर्मा । मूल्य डेढ़ रुपया ।

५. राजस्थान का लोक-संगीत : राजस्थानी लोक-संगीत का खोज और अध्ययनपूर्ण विवेचन । लेखक – सुप्रसिद्ध विद्वान् और कलाकार श्री देवीलाल सामर, सहायक श्री गींडाराम वर्मा । १८x२२/८ आकार के १५२ पृष्ठ । मूल्य तीन रुपया ।

६. राजस्थानी लोक-नृत्य : राजस्थानी लोक-नृत्यों का अध्ययनपूर्ण सचित्र विवेचन । लेखक – सुप्रसिद्ध विद्वान् और कलाकार श्री देवीलाल सामर, सहायक श्री गींडाराम वर्मा । १८x२२/८ आकार के ५६+२० पृष्ठ । मूल्य दो रुपया ।

७. राजस्थानी लोक-नाट्य : राजस्थान में प्रचलित लोक-नाटकों का अध्ययनपूर्ण विवेचन । लेखक – सुप्रसिद्ध विद्वान् और कलाकार श्री देवीलाल सामर, सहायक श्री गींडाराम वर्मा । मूल्य दो रुपया ।

८. राजस्थानी लोकोत्सव : राजस्थान में प्रचलित त्यौहारों और उत्सवों का अध्ययनपूर्ण विवेचन । लेखक – श्री गींडाराम वर्मा । मूल्य दो रुपया ।

९. राजस्थानी स्वर लहरी, भाग – १ : राजस्थान में प्रचलित अत्यन्त लोकप्रिय बत्तीस पारिवारिक लोकगीतों का, स्वरलिपि एवं भावार्थ सहित, स्मृति संग्रह । १८x२२/८ आकार के ११२ पृष्ठ । मूल्य ३) रुपया ।

● लोक-कला के ग्राहक बनिये । वार्षिक मूल्य ४) रु० ●

प्रकाशन विभाग
भारतीय लोक-कला मण्डल, उदयपुर